प्रतिमा-पूजन

卐

❀ लेखक ❀

अध्यात्मयोगी, नि स्पृहशिरोमणि
पूज्यपाद पन्यासप्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य

卐

❀ सम्पादक ❀

मुनिश्री रत्नसेन विजयजी महाराज

卐

❀ प्रकाशक ❀

स्वाध्याय-सघ

C/o Indian Drawing Equipment Industries
No 2, Sidco Industrial Estate
Ambattur, MADRAS-600 098

आवृत्ति : द्वितीय मूल्य : १५.०० रुपये
विमोचन तिथि : द्वितीय वैशाख शुक्ला पूर्णिमा, २०४८ दिनाङ्क २८-५-९१

❀ प्राप्ति-स्थान ❀

1. Shantilal D. Jain
C/o Indian Drawing Equipment Industries
Shed No. 2, Sidco Industrial Estate
Ambattur—Madras-600 098

२. कान्तिलाल मुणत
१०६, रामगढ़, आयुर्वेदिक अस्पताल के पास,
रतलाम (M.P) 457 001

३. कनकराज पालरेचा
C/o गंगाराम मुल्तानमल, बाजार
रानी (राज) 306 115

४. आनन्दराज गेमावत
विमलपुरा, वाली (राज.) 306 701

५. छगनराज चोपड़ा
C/o सोनल फर्नीचर, Shop No 1, सर्वोदयनगरगेट
सत्यविजय-को हा. सोसायटी, मांडुप, बम्बई—400 078

६. प्रकाशचन्द फतेहचन्द
C/o Valuable Fabrics
116 दर्शन मार्केट, 1st Floor, रिंगरोड—सूरत-395 003

७. अशोक रायचन्दजी
C/o रमणलाल रायचन्द
50/52 मिर्जा स्ट्रीट-चौथी मंजिल
बम्बई-400 003

८. सुघोषा कार्यालय
जीवन निवास सामे, At पालीताणा (सौराष्ट्र)

९. अमरसी लक्ष्मीचन्द
एस. टी बुक स्टॉल
At शंखेश्वर
Via हारीज (उ. गु.)

प्रस्तुत पुस्तक मे सुकृत के सहभागी

शा हिम्मतमल अचलदास
76/86 जूनी हनुमान गली
लक्ष्मीभुवन-दूसरा माला
बम्बई-400002



शा मूलचन्द किशोर कुमार
7, दादीसेठ अग्यारी लेन,
कालबादेवी, दूसरामाला
बम्बई-400002



शा मोहनलाल अजेराजजी महेता
304 श्रीपालनगर
12, हार्कनेस रोड, बम्बई-40016



शा नरेश कुमार आनन्दीलाल
8, खडेरावबाडी, पहला माला
दादीसेठ अग्यारी लेन, बम्बई-400002



सघवी कुन्दनमल बाबूलाल जी
रावल स्ट्रीट
पिडवाडा (राज) 307022

卐 हमारे लोकप्रिय प्रकाशन 卐

❀ लेखक ❀

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य

१	महामंत्र की अनुप्रेक्षा	२०.००
२	नमस्कार मीमांसा	अप्राप्य
३	चिन्तन की चिनगारी	,,
४	चिन्तन के फूल	५.००
५	परमात्म दर्शन	५.००
६	चिन्तन की चांदनी	६.००
७	चिन्तन का अमृत	६.००
८	आपके सवाल, हमारे जवाब	७.००
९	समत्वयोग की साधना	१२.००
१०	जैनमार्ग परिचय	अप्राप्य
११	जिनभक्ति	२०.००
१२	प्रतिमा-पूजन	१५.००
१३	परमेष्ठि-नमस्कार	६.००
१४	आत्मसाधना का मार्ग	(प्रेस में)



परम पूज्य

अध्यात्मयोगी सूक्ष्मतत्त्वचिन्तक



पन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजय जी गणिवर्य



लेखक की कलम से.....

समर्थ शास्त्रकार-महर्षि आचार्य भगवन्त श्रीमद् हरिभद्रसूरिजी और उनसे भी पूर्व के महान् पूर्वाचार्य महर्षि फरमाते हैं—

"चैत्यवन्दनत सम्यक्, शुभो भाव प्रजायते।
तस्मात् कर्मक्षय सर्व, तत कल्याणमश्नुते ॥

चैत्य अर्थात् जिन-मन्दिर अथवा श्री जिनबिम्ब को सम्यग् रीति से वन्दन करने से प्रकृष्ट शुभ भाव पैदा होते हैं। शुभ भाव से कर्म का क्षय होता है और कर्मक्षय से सब कल्याण की प्राप्ति होती है। मन, वचन, काया की प्रशस्त प्रवृत्ति का नाम 'वन्दन' है। मन से ध्यान करना, वचन से स्तुति करना तथा काया से पूजा आदि करना, उन्हे शास्त्रीय भाषा मे वन्दनक्रिया कहते हैं। श्री अरिहन्त के चैत्यो को मन, वचन और काया द्वारा वन्दन करना, सुगन्धित पुष्पमाला आदि द्वारा उनकी पूजा करना, श्रेष्ठ वस्त्रालकारो द्वारा उनका सत्कार करना और गुणस्तुत्यादि द्वारा उनका सन्मान करना, यह जन्मान्तर मे भी श्री जिनधर्म की प्राप्ति कराने वाले होते हैं, और अन्त मे जन्म, जरा, मृत्यु आदि के दुखो का स्पर्श भी जहाँ नही है, ऐसे 'निरुपसर्ग' मोक्षपद को देने वाले होते हैं, ऐसा सूत्रकार भगवन्त मूल सूत्रो मे फरमाते हैं।

'चैत्यवन्दन' अर्थात् 'अरिहन्तो की प्रतिमाओ का पूजन' कैसे होता है, इस सम्बन्ध मे शब्दशास्त्र-विशारद फरमाते हैं कि—

"चित्तम्—अन्तःकरणं तस्य भावः कर्म वा, प्रतिमालक्षणम् अर्हच्चैत्यम्। अर्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधि–चित्तोत्पादकत्वात् चैत्यानि भण्यन्ते।"

चित्त यानी अन्तःकरण। अन्तःकरण का भाव अथवा अन्तःकरण की क्रिया, उसका नाम चैत्य है। अरिहन्तों की प्रतिमाएँ अन्तःकरण की प्रशस्त समाधि को पैदा करने वाली होने से 'चैत्य' कहलाती है।

चैत्य शब्द का दूसरा अर्थ—

"चैत्यं जिनौकस्तद्‌विम्वम्।"

श्री जिनगृह अथवा श्री जिनबिम्ब ऐसा भी अर्थ कोशकारों ने किया है। उस चैत्य को वन्दन आदि करने से शुभ भाव की वृद्धि होती है, शुभ भाव की वृद्धि से उत्तरोत्तर सम्यग्दर्शनादि विशुद्ध धर्मो की प्राप्ति होती है और इससे परम्परा से सर्व कर्म की मुक्ति आदि महत् कार्य भी सिद्ध होते है।

अर्हत् चैत्य यानी श्री अरिहन्तों की प्रतिमाओं को वन्दन-पूजन आदि करने से सम्यग्दर्शनादि आत्मगुणो की प्राप्ति और कर्मक्षय की सिद्धि होती है, ऐसा श्रीमद् हरिभद्रसूरि म० आदि सूरिपु गवों ने ही फरमाया है, ऐसा नही, परन्तु पूर्व के पूर्वधर—भगवान श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमणजी, दश-पूर्वधर—भगवान श्री उमास्वातिजी और चौदह पूर्वधर श्रुतकेवली भगवान श्री भद्रबाहु स्वामीजी आदि अनेक सूरिपुरन्दरों ने भी महाभाष्य, पूजा प्रकरण, आवश्यक निर्युक्ति आदि महाशास्त्रो में भी ऐसा फरमाया है। इतना ही नही, परन्तु मूल आवश्यक सूत्रकार गणधर भगवान श्री सुधर्मास्वामीजी महाराज ने, कायोत्सर्ग, आवश्यक और उसके आलावों में भी स्पष्ट शब्दो मे बताया है।

प्रतिमा पूजन की सिद्धि और श्रेय साधकता के लिए, इससे अधिक प्राचीन और प्रबल प्रमाण दूसरे मार्ग मे ही हो सकते हैं। प्रतिमा पूजन, यह किसी अज्ञानी, स्वार्थी साधु या धूतपुरुष की कही हुई निरर्थक क्रिया नहीं है, किन्तु सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्त, नि स्वार्थ और शुद्ध पुरुषो ने स्व-पर-श्रेय के लिए बताई गई अजोड और अनुपम सफल धर्मक्रिया है। इसके अनेक प्रमाण इस पुस्तक मे स्थान-स्थान पर देने का प्रयास किया गया है। इन्हे ध्यानपूर्वक पढने वाले किसी भी समदृष्टि वाचक को स्पष्ट हुए बिना नही रहेगा कि प्रतिमा-पूजन, यह अज्ञान या अविवेक से उत्पन्न नही हुई है, परन्तु इसका खण्डन ही घोर अज्ञान और अविवेक मे से उत्पन्न हुआ है।

प्रतिमा-पूजन जैसी सर्वोच्च आत्मकल्याणकर प्रवृत्ति के लिए व्यंग्य कसने वाले वर्ग के दो भाग हो जाते हैं। एक प्राचीन विचारश्रेणी का और दूसरा अर्वाचीन विचारश्रेणी का। प्राचीन विचारश्रेणी का वर्ग प्रतिमापूजन मे हिंसा और उसे अधर्म मानता है और अर्वाचीन, विचारश्रेणी का वर्ग प्रतिमा पूजन मे बुद्धि की जडता और उसे अन्ध परम्परा मानता है। ये दोनो विचारश्रेणियां अज्ञानमूलक है। प्रतिमा-पूजन से हिंसा नहीं, परन्तु अहिंसा बढती है तथा प्रतिमा-पूजन से बुद्धि की जडता नही किन्तु निर्मलता बढती है तथा अंध अनुकरण के बजाय सर्वोत्कृष्ट ज्ञानियो के बताये ज्ञानमार्ग का अनुसरण होता है।

इस सम्पूर्ण पुस्तक में प्राचीन और अर्वाचीन दोनो श्रेणी के विचारो का प्रतिमा-पूजन सम्बन्धी विरोध वाला मन्तव्य कितना भूल भरा है, उसे समझाने का शक्य प्रयास किया गया है और प्रतिमा-पूजन से होने वाले उत्तरोत्तर लाभों का युक्ति, अनुभव और शास्त्र के आधार से हो सके उतना शक्य समर्थन किया गया है। प्रतिमा-पूजन के पक्ष सम्बन्धी आज

तक बहुत सा साहित्य शास्त्र के अनुसार प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में उसी बात को भिन्न प्रकार से समझाया गया है।

श्री जिन-प्रतिमा-पूजन, यह एक ऐसा विषय है कि उस पर अनेक महापुरुषों ने अनेक प्रकार से विचार किया है और उसके लाभ ढूंढने के लिए अपना जीवन लगाया है। उसके हार्द में वे जैसे-जैसे गहरे उतरते गये हैं, वैसे-वैसे उन्हें नया-नया अनुभव-दर्शन प्राप्त होता गया। इससे होने वाले सम्पूर्ण लाभों का अन्त ढूंढना, बड़े-बड़े योगियो को भी अगम्य हुआ है। ऐसे एक गहन, अनन्त उपयोगी और सब का ही एकान्त कल्याण करने वाले विषय पर जितना अधिक विचार किया जावे और उसके लाभ ढूंढने के लिए जितनी अधिक सूक्ष्म गति दौड़ाई जावे, उतनी कम ही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे जो कुछ विचारणा की गई है, वह आज तक प्रकाशित हुए शास्त्रानुसारी साहित्य को ध्यान मे रखकर ही की गई है। प्रतिमा-पूजन यह साधुओं और गृहस्थी दोनों के लिए सामान्य और नित्य-धर्म है। इस नित्य-धर्म में जितनी श्रद्धा और समझ की शुद्धि और वृद्धि होती रहे, उतनी शुद्धि करने की आज के युग मे अत्यन्त आवश्यकता है।

वर्तमान समय में धर्म के विषय मे बहुत कम विचार किया जाता है। बहुत कम ऐसे प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, जो धर्म के विषय में गहरे उतरने का प्रयास करते हों। ऐसी स्थिति में धर्म के नाम पर गलत बाते जीवन मे आ जाती है और सही बाते चली जाती है, यह सहज-स्वाभाविक है। श्री जिनप्रतिमा-पूजन एक सर्वोत्तम धर्मानुष्ठान है। इस कोटि का धर्मानुष्ठान और कोई अन्य हो, यह त्रिभुवन मे भी असम्भवित है। उसके सम्मुख अज्ञानता, पूर्वाग्रह, कुशिक्षण, जड़वाद,

उपेक्षा और धर्म-अवगणना आदि अनेक अनिष्टकारी बातें मुँह बाये खडी हैं। इन सब से स्वय बचने और दूसरो को बचाने के लिए तैयार होने की जरूरत है। ऐसे समय मे श्री जिनप्रतिमा-पूजन की श्रेष्ठता सिद्ध करने वाला यही नही किन्तु अनेक प्रकार का साहित्य प्रकाशित करने की आवश्यकता है। इस कार्य का एक अश भी इस पुस्तक द्वारा पूरा हो, तब भी यह प्रयास सफल हुआ ही समझा जायेगा।

इस पुस्तक मे दी गई प्रश्नोत्तरी आज से बहुत वर्ष पहले प्रकाशित 'मूर्ति मण्डन प्रश्नोत्तर' नामक ग्रन्थ के आधार पर तैयार की गई है। इसमे जो कमी रह गई हो, तो उसके लिए 'मिच्छा मि दुक्कड' देने के साथ, पाठको को वे कमिया गीतार्थ गुरुओ के पास से सुधार लेने की खास सूचना है।

करमचन्द जैन हॉल
अन्धेरी स० १९९७ पाप सुद ८
ता० ६-१-१९४१



मुनि भद्रकरविजय



卐 हमारे जनप्रिय प्रकाशन 卐

लेखक—प्रवचनकार मुनिश्री रत्नसेन विजयजी म.

१	वात्सल्य के महासागर	अप्राप्य
२	सामायिक सूत्र विवेचना	५.००
३	चैत्यवन्दन सूत्र विवेचना	अप्राप्य
४	आलोचना सूत्र विवेचना	६.००
५	वंदित्तु सूत्र विवेचना	५.००
६	आनन्दघन चौवीसी विवेचना	२०.००
७	मानवता के दीप जलाएँ	७.००
८	कर्मन् की गति न्यारी	अप्राप्य
९	मानवता तब महक उठेगी	,,
१०	जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है	,,
११	चेतन ! मोह नींद अब त्यागो	९.००
१२	मृत्यु की मंगल यात्रा	९.००
१३	युवानो ! जागो	अप्राप्य
१४	शान्त सुधारस-हिन्दी विवेचन I भाग	२०.००
१५	,, ,, ,, II ,,	१८.००
१६	रिमझिम रिमझिम अमृत बरसे	३०.००
१७	महाभारत और हमारी संस्कृति भाग I	१५ ००
१८	,, ,, ,, II	२०.००
१९	जीवन की मंगल यात्रा	१०.००
२०	तब चमक उठेगी युवा पीढ़ी	१०.००
२१	अँखियाँ प्रभुदर्शन की प्यासी	१५ ००
22	The Light of Humanity	(In Press)
२३	युवा-चेतना (विशेषाक)	(प्रेस मे)

सम्पादक की कलम से....

अनन्त करुणा के महासागर श्री अरिहन्त-परमात्मा अपने चारों निक्षेपों के द्वारा जगत् के जीवों पर उपकार की वर्षा कर रहे हैं।

- ☐ सांकेतिक नाम का उच्चारण करने से सांकेतिक वस्तु का बोध होता है। वह वस्तु का नाम निक्षेप है।
- ☐ वस्तु की आकृति से भी वस्तु का यथार्थ बोध होता है। वह वस्तु का स्थापना निक्षेप है।
- ☐ वस्तु की भूत-भावी अवस्थाएँ भी वस्तु का बोध कराती हैं। वह वस्तु का द्रव्य निक्षेप है।
- ☐ इसी प्रकार वस्तु स्वय अपने स्वरूप का बोध कराती है। जिस वस्तु का भाव निक्षेप पूजनीय हो उसके नाम आदि निक्षेप भी पूजनीय गिने जाते हैं और जिस वस्तु का भाव निक्षेप अपूजनीय होता है, उसके नामादि निक्षेप भी अपूजनीय गिने जाते हैं।

अरिहंत परमात्मा का भाव निक्षेप वंदनीय/पूजनीय होने से उनके नाम व स्थापना निक्षेप भी उतने ही वन्दनीय और पूजनीय ह।

परंतु अज्ञानता और मोह की प्रबलता के कारण विक्रम की लगभग १७वी शताब्दी मे लोकाशा आदि ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध बाग/पुकार दी थी। युक्ति और आगम से मूर्तिपूजा सिद्ध होने पर भी कदाग्रह से ग्रस्त

व्यक्तियों ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध जोर-शोर से प्रचार प्रारम्भ कर दिया था मूर्ति तो पत्थर की है, उसे पूजने से क्या फायदा ? मूर्तिपूजा में तो एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा रही हुई है—उसकी पूजा से क्या फायदा ? इस प्रकार के कुतर्कों से अनेक लोग मूर्ति का विरोध करने लगे थे। इतना ही नही अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर आगमों में जहाँ-जहाँ मूर्तिपूजा का उल्लेख था—या तो उन्होने उस आगम को स्वीकार करने से ही इन्कार कर दिया अथवा 'चैत्य' शब्द का अर्थ ही बदल दिया।

मूर्तिभंजको के कुमत के प्रचार-प्रसार मे अनेक व्यक्तियो की मूर्ति-विषयक श्रद्धा भी डगमगाने लग गई थी। कसौटी के इस प्रसंग मे **पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज** ने **'प्रतिमाशतक'** जैसे अनमोल ग्रन्थ की रचना कर प्रतिमालोपकों का तर्क, युक्ति व आगम से खण्डन कर सन्मार्ग की स्थापना की थी।

'प्रतिमाशतक' में पूज्य उपाध्यायजी महाराज लिखते है—

नामादित्रयमेव भावभगवत्ताद्रूप्यधीकारणं,
शास्त्रात् स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः।
तेनार्हत् प्रतिमामनादृतवतां भावं पुरस्कुर्वता-
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः॥

अर्थ—"शास्त्र के प्रमाण से एवं स्वानुभव से शुद्ध हृदय वाले इस बात की प्रतीति करते है कि भाव-अरिहन्त में तद्रूपपने की बुद्धि का कारण नामादि तीन निक्षेप ही है। अंधे की दर्पण मे मुख देखने की चेष्टा कितनी हास्यास्पद है। वैसे ही अरिहन्त की प्रतिमा का आदर किए बिना भाव अरिहन्त को आगे करने वालो की बुद्धि भी उतनी ही हास्यास्पद है।"

जिनबिम्ब का महत्त्व बतलाते हुए पूज्य उपाध्यायजी महाराज आगे फरमाते हैं कि—"जिनेश्वर देवो की प्रतिमा देवेन्द्रो की श्रेणी द्वारा नमस्कृत है, प्रचण्ड तेज का निकेतन है, भव्य जीवो के नेत्रो के लिए अमृत समान है, सिद्धान्त-रहस्यो के विचार मे चतुर पुरुषो के लिए प्रमाणित है और प्रतिक्षण वर्धमान कान्ति का आलय है। इस प्रकार सदैव जय पाने वाली जिनमूर्ति को उन्माद और प्रमाद की मदिरा से उन्मत्त बने पुरुष ही आदर की दृष्टि से नही देखते हैं।"

जिनबिम्ब मे परमात्म भाव का आरोपण है, अत अनन्तज्ञानी तीर्थंकर परमात्मा की शान्त, निर्विकार और ध्यानारूढ भव्य मूर्ति के दर्शन से श्री वीतराग परमात्मा के लोकोत्तर गुणो का स्मरण अवश्य होता है।

आगम-प्रमाण से भी जिनबिम्ब की पूजा सिद्ध हो जाती है। 'कल्पसूत्र' ग्रन्थ मे सिद्धार्थ महाराजा द्वारा जिनेश्वरदेव की द्रव्यपूजा करने का कथन है।

उपासकदशांग मे आनन्द श्रावक द्वारा जिनप्रतिमा के वन्दन का पाठ है।

ज्ञातासूत्र मे द्रौपदी द्वारा जिनबिम्ब पूजा करने का अधिकार है।

भगवती सूत्र मे चमरेन्द्र के अधिकार मे तीन शरण बताते हुए दूसरा शरण श्री अरिहन्त के चैत्य का बतलाया है।

भगवती सूत्र मे जघाचारण और विद्याचारण मुनियो द्वारा जिन-प्रतिमा के वन्दन का अधिकार है।

आवश्यक सूत्र मे भरत चक्रवर्ती द्वारा जिनप्रासाद के निर्माण की बात आती है।

रागी के दर्शन से यदि मन में राग-भाव पुष्ट होता है तो वीतराग-परमात्मा के दर्शन से मन मे विराग भाव पुष्ट क्यों नहीं होगा ?

लोकाशा-मत मे हुए स्थानकवासी और तेरापंथी जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर का निषेध व विरोध करते हैं…परन्तु आश्चर्य तो यह है कि उनके जीवन में ही कितना विरोधाभास देखने को मिलता है !

जिनमूर्ति को जड़ व प्रभावशून्य कहने वाले ये ही स्थानकवासी/तेरापंथी साधु-साध्वी अपने फोटो खिचवाते हैं…अनेक पुस्तकों में स्थानकवासी-तेरापंथी साधुओं के अनेक रंगीन व आकर्षक फोटो देखने को मिल सकते हैं। स्थानकवासी व तेरापंथी अपने घरो में अपने धर्मगुरुओ के रंगीन-बड़े-बड़े फोटो सुन्दर तस्वीरो मे मढ़वाकर दीवारों पर टांगते है और हमेशा उनके दर्शन करते हैं,…उनको आदर व सम्मान की दृष्टि से देखते है।

'प्रभु-प्रतिमा के दर्शन-पूजन मे पाप लगता है'—की बांग पुकारने वाले ये स्थानकवासी साधु अपनी स्वयं की उपस्थिति में अपनी जन्म-जयन्ती का लम्बा-चौड़ा महोत्सव करवाते है। दैनिक अखबारो मे अपने फोटो सहित बड़े-बड़े विज्ञापन दिलाते है।

मृत्यु के बाद भी इन्ही साधुओ की प्रेरणा से इनके धर्मगुरुओं के स्मारक बनाये जाते है।

जो धर्म या समाज अपने धर्म-गुरुओं की स्थापना को पूज्य मानता है, उसी धर्म/समाज या सम्प्रदाय के लोग जब वीतराग प्रतिमा को मानने से इन्कार करते है—तब हँसी आ जाती है। ओहो ! उनका यह कैसा बेहूदा व्यवहार है।

अपने धर्मगुरुओं की मूर्ति, पादुका, समाधि व फोटो में होने वाली

हिंसा की उपेक्षा कर जिनमन्दिर के निर्माण व जिनप्रतिमा के पूजन में होने वाली स्वरूपहिंसा को आगे कर जिनमन्दिर व जिनप्रतिमा को अस्वीकार करने की उनकी बात कितनी युक्तिहीन है !

अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि नमस्कार महामंत्र के बेजोड आराधक एवं प्रचारक स्व. पूज्य गुरुदेव पन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री ने प्रस्तुत 'प्रतिमा पूजन' पुस्तक का गुजराती भाषा में वि. सं. १९९७ में आलेखन किया था। गुर्जर भाषा में यह कृति अत्यन्त ही लोकप्रिय बनी। अनेक आत्माओं के मन में रहे प्रतिमा-विषयक सन्देह दूर हुए, अनेक को सन्मार्ग प्राप्त हुआ। गुजराती भाषा में इस पुस्तक की तीन आवृत्तियाँ प्रगट हो चुकी हैं, फिर भी इसकी माग निरन्तर जारी है।

वि. सं. २०३५ में इस पुस्तक का जसराजजी सिंघी द्वारा हिन्दी में अनुवाद किया गया था और जिनदत्त सूरि जैन दादावाडी, अजमेर की ओर से इस कृति का हिन्दी में प्रकाशन हुआ था। आज उसकी भी नकलें उपलब्ध नहीं है।

परम पूज्य सौजन्यमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतन सूरीश्वरजी म. सा. के शुभाशीर्वाद एवं परोपकारपरायण पूज्य पन्यासप्रवर श्री वज्रसेन विजयजी गणिवर्यश्री की सत्प्रेरणा एवं परम पूज्य तपस्वी, सेवाभावी मुनिप्रवर श्री जिनसेन विजयजी म. सा. की सहयोगवृत्ति से इस अनमोल पुस्तक का पुनः संस्करण-परिमार्जन, नवीन मेटर का हिन्दी अनुवाद और सम्पादन किया गया है। प्रथम आवृत्ति में भाषा सम्बन्धी भी जो भूलें थीं, उन्हें भी परिमार्जित किया गया है। कहीं-कहीं लेखों में क्रम की वाक्यरचना एवं भाषा आदि में भी आवश्यक परिवर्तन किया है। भावार्थों को सरल व स्पष्ट करने का भी प्रयास किया गया है, जिससे कठिन पदार्थों का सुगम बोध हो सके।

प्रस्तुत सम्पादन में स्वर्गस्थ पूज्यपाद गुरुदेव श्री के अभिप्राय को यथावत् बनाए रखने का पूर्ण ध्यान रखा गया है—फिर भी छद्मस्थतावश कहीं स्खलना रह गई हो तो उसके लिए क्षमायाचना करता हूँ।

प्रस्तुत कृति का यदि मध्यस्थवृत्ति से पठन-पाठन और अध्ययन किया जाएगा तो अवश्य ही सन्मार्ग की प्राप्ति होगी।

सभी आत्माएँ वीतराग-प्ररूपित सन्मार्ग की उपासिका बनकर अपना आत्मश्रेयः सिद्ध करें, इसी शुभेच्छा के साथ—

जैन उपाश्रय,
पिंडवाड़ा
कार्तिक पूर्णिमा, २०४७

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य शिष्याणु
मुनि रत्नसेन विजय



अध्यात्मयोगी पूज्य पंन्यासजी महाराज

लेखक—शासनप्रभावक पूज्य आचार्य
श्री यशोविजयसूरीश्वरजी महाराज

'तुम बिनु कोई चित्त न सुहावे।' महामहोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज ने महामहिम श्री शखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान के स्तवन मे यह कहा है। परमात्मा के साथ मन का ऐसा सम्बन्ध जुड गया है कि उनके सिवाय मन को कुछ अच्छा हो नही लगता।

'प्रभु के बिना मुझे एक क्षण भी नही सुहाता है।'

भक्त-पुरुषो की ऐसी परा/श्रेष्ठ वाणी का समवतार पूज्यपाद अध्यात्ममूर्ति पन्यासप्रवर श्री भद्रकरविजयजी महाराज की पुस्तको मे यत्र-तत्र-सवत्र देखने को मिलता है। महाभक्तो के द्वारा बहाई हुई परमात्मभक्ति की धारा को झेलकर, उसे आत्मसात् कर एक नई धारा बहाना यही तो भक्तियोगियो का काम है न? पूज्य पन्यासजी महाराज अपने युग के श्रेष्ठ भक्तियोगियो मे से एक थ।

'प्रभु के बिना मुझे एक क्षण भी नहीं सुहाता है।' पूज्य मोहनविजय महाराज कहते हैं, परमात्मा के अपने पर होने वाले अनन्त-अनन्त उपकारो का ध्यान होने के बाद प्रभु के बिना एक क्षण भी कैसे रहा जा सकता है? भक्त के लिए अन्य सभी प्रतिकूलताएँ, सारी विपरीत परिस्थितियाँ सह्य होती हैं, लेकिन भगवान के बिना रहना पडे यह स्थिति उसे असह्य है—'तेरे बिना कैसे निबाहूँ?'

पूज्य पंन्यासजी महाराज ने **'तत्त्वदोहन'** में वताया है, 'प्रत्यक्ष रूप में श्री अरिहन्त भगवन्त के विरह में भी श्री अरिहन्त परमात्मा के गुणों के उपयोग वाले साधक की देह में उपयोग रूप में भाव-अरिहन्त रहते है, इससे अरिहन्त परमात्मा का विरह साधक को नही होता है ।' (पृ. १४५)

'मनमन्दिर आओ रे ।' की प्रार्थना को साकार करने के लिए पूज्यश्री ने कैसा सुन्दर मार्ग दिखाया है । साधक मनरूपी मन्दिर मे परमात्मा को प्रतिष्ठित करता है, क्योंकि जव तक मन-मन्दिर में परमात्मा का वास नही होगा, तव तक वह सूना होगा । आनन्दघनजी महाराज का कहना है—**'जस सुनो वातां, एही मिले तो मेरा फेरो टले ।'** वस, परमात्मा मिल जाए, तो जनम-जनम का बन्धन टूट जाएगा ।

पूज्य पंन्यासजी महाराज ने परमात्ममिलन के जिस मार्ग की ओर इशारा किया है, वह यह है—'अरिहन्त परमात्मा के गुणों मे तदाकार वनना चाहिए । परमात्मा-मिलन परमात्मत्व की प्राप्ति मे परिणत होता है और 'प्रभु मुझे तुझ जैसा होना है' यह संकल्प साकार हो जाता है ।' पंन्यासजी महाराज कहते है, 'साधक जव भाव अरिहन्त के ध्यान में अपनी मनोवृत्तियों को तदाकार वनाता है, तभी वह स्वयं परमात्म-स्वरूप मे परिणत होता है । ... भाव से भाव की उत्पत्ति होती है । जैसे जलते हुए दीपक की ज्योति के साथ जुड़ने से दूसरा दीपक प्रकाशित होकर अन्य दीपकों को भी अपने समान प्रकाशमान वनाने में समर्थ होता है, वैसे ही केवलज्ञान की ज्योति से प्रकाशमान परमात्मा से तन्मय हुई अन्तरात्मा भी परमात्म ज्योति को प्राप्त कर लेती है ।'

(तत्त्वदोहन-पृ. १४५)

परमात्म-ज्योति के सूरज के उदित होने से पहले जो अरुणोदय होता है, वह भी अन्दर की दुनिया में कितना प्रकाश फैला जाता है ?

'बिसर गई दुनिया तन-मन की अचिरा-सुत गुणगान में' एक ओर प्रभु के गुणों का गान, दूसरी ओर दुविधा, द्विधा और तनाव का नाश। तनाव के ग्रहण को शान्त करने का कैसा सरस मंत्र !

'बिसर गई दुनिया ' का प्रतिघोष करने वाली भद्रकरी वाणी, 'श्री अरिहन्त भगवन्तो के बिम्बों/मूर्तियो का नाम 'चैत्य' इसलिए है कि उनको किया हुआ वन्दनादि प्रशस्त समाधियुक्त चित्त को उत्पन्न करता है।'

'चित्त प्रसन्ने रे पूजन-फल कह्यु रे' अर्थात् परमात्मा की पूजा चित्त की प्रसन्नता बढाती है। आराधक भाव का अर्थ है आत्मरति या आत्मतुष्टि। सच्ची प्रसन्नता की निर्मिति अन्दर से ही हो सकती है, बाहर की हो वह प्रसन्नता नही कहलाती है। वह आनन्दाभास होता है, आनन्द नही होता है।

परमात्मा की भक्ति करने से चित्त हल्का होता है, इसका कारण यह है कि पाप से बोझिल बने हुए व्यक्तित्व मे पाप के नाश से हल्कापन आ जाता है। परमात्मा के पास क्या मांगना चाहिए ? पूज्य पन्यासजी महाराज कहते हैं, 'छोडने योग्य पापो से, हे नाथ, आप मुझे छुडाइए।' यह याचना परमात्मा के पास करनी है।

'सासारिक पदार्थों की याचना के लिए ईश्वर नही है। ईश्वर तो अचिन्त्य शक्ति का सागर है, इसलिए उसके पास सासारिक पदार्थों की तुच्छ याचना करना चक्रवर्ती के पास काना पैसा मांगने से भी बढकर बुरा कृत्य है।' (तत्त्वदोहन पृ २७५)

एक चक्रवर्ती राजा किसी ब्राह्मण पर प्रसन्न हुआ। उसने ब्राह्मण से कहा, "माग, माग। जो मागेगा वह दूगा।" ब्राह्मण ने मागा,

"आपके राज्य में वारी-वारी से हरएक के यहाँ मुझे भोजन मिले और ऊपर से एकाध सोने की मुहर की थोड़ी-सी दक्षिणा मिले।" चक्रवर्ती राजा प्रसन्न हुआ, लेकिन मांगने वाले ब्राह्मण को मांगना नहीं आया। प्रभु के पास क्या मांगना चाहिए ? प्रार्थनासूत्र **'जय वीयराय'** में बताया गया है, **'भवनिव्वेओ, मग्गाणुसारिआ...।'** पूज्य पंन्यासजी महाराज कहते है, 'भवनिर्वेद से गुरुवचन की सेवा तक के पदार्थ पापवर्जन के लिए अनन्य उपाय के रूप मे होने से उन्हें ही मांगा गया है। इस प्रकार पापवर्जन के उपायभूत होने वाले जितने पदार्थ है, उन सबकी याचना-प्रार्थना ईश्वर के पास विहित है।'

पापवर्जन को ईश्वर-प्रार्थना का विषय बनाना है और दुःखवर्जन को नही, इस सम्वन्ध मे पूज्यश्री ने एक अकाटच तर्क दिया है, 'ईश्वर-प्रार्थना का विषय यदि पापवर्जन न रहे, तो ईश्वर के महत्त्व की रक्षा नही होती है, क्योकि दुःखो से छुटकारा तो सेठ, साहूकार आदि की सहायता से भी मिल सकता है।'

पापवर्जन की प्रार्थना तो मोक्षयाचना का ही वीज है। अकर्म और निष्पाप वने विना मुक्ति कैसे मिल सकती है ?

मुक्ति भक्ति से मिलती है। 'हम भक्ति से मुक्ति को खींच लाएगे।' भक्त की तो वात ही क्या की जाए ? भक्तों की तो दुनिया ही न्यारी है। पूज्य मानविजय महाराज की वाणी सुनिए, 'निरागी प्रभु भी खीच लिया, भक्ति से किया मैंने सात राज्य।' और इसके वाद वहुत मजेदार वात लिखी है 'मन मे लाकर वसा दिया, अव कैसे निकल जाने दें।' प्रभु को भक्त ने अपने हृदय में स्थापित कर लिया। 'मन में ही लाकर वसा दिया', कैसे शव्दो का प्रयोग है यह ? धन्य है यह वाणी। परमात्मा की यह प्रतिष्ठा (निवास) अव निरन्तर के लिए

हो गई है। 'जो भेदरहित मुझसे मिले, तो पलक में ही छूट जाएगा।' मोक्ष दिए बिना अब कैसे चलेगा ? परमात्मा कब्जे में आ गया है न ? 'कब्जे में आए, कैसे छूटोगे, दिए बिना मुक्ति कृपाल ।'

पूज्य मानविजयजी महाराज की इस अमृतवाणी का प्रतिबिम्ब होने वाली पूज्य पन्यासजी महाराज की वाणी 'सभी तेजों में प्रमुख ज्योतिरूप श्री अरिहन्त परमात्मा का शिवसुख की प्राप्ति के लिए ध्यान करना चाहिए। वह (परमात्मा) वीतराग होने पर भी ध्याता-मुमुक्षुओं को स्वर्ग और मोक्ष के उत्तम फल देने वाला है ?' (तत्त्वदोहन पृ १४६)

'जो भेदरहित मुझसे मिलो।' वह अभेद-मिलन कैसे होगा ? पूज्य पन्यासजी महाराज इस मिलन के मार्ग को सूचित करते हुए कहते हैं कि 'आगम (शास्त्र) में बताए गए श्री तीर्थंकर के स्वरूप में उपयुक्त साधक वस्तुत तीर्थंकर स्वरूप है, क्योंकि इस उपयोग के साथ उसकी अभेदवृत्ति है।' (तत्त्वदोहन पृ १४६)

परमात्मा की शक्ति अचिन्त्य महिमा से युक्त है। परमात्मा का नाम, उसका स्मरण व्यक्ति को जीव में से शिव बनाता है। आत्मा परमात्मा बन जाती है। पूज्य पद्मविजयजी महाराज ने श्री सुपार्श्वनाथ भगवत के स्तवन में परमात्मा की तारक शक्ति को स्पष्ट करने के लिए एक मजेदार प्रश्नोत्तरी रची है, 'तारनेवाला तू ही कैसे प्रभु, हृदय में धरता है लोक रे, भवसमुद्र में तू ही तारता है, यह तेरे लिए अभिधा व्यय है।' हे प्रभो! तू किस तरह से तारक है ? हम तुझे हृदय में धारण कर लेते हैं, तेरा भजन करते हैं और भव-पार उतर जाते हैं। तू कैसा तारक है ?

लेकिन फिर तुरत वे कहते हैं, 'नहीं, नहीं प्रभु! यह तो मिथ्याप्रलाप है। तुम्हारे बिना, तुम्हारी शक्ति के बिना मैं कैसे तर

सकता हूँ ? मशक हवा को अपने अन्दर रखकर पानी में तैरती है। वहाँ मशक हवा को नहीं तारती है, बल्कि हवा ही मशक को तारती है। उसी तरह भव्यजन परमात्मा का हृदय मे स्मरण कर भवसागर तैर जाते है, वहाँ चमत्कार सिर्फ परमात्मा की शक्ति का है। कहा है, 'यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेप नूनमन्तर्गतस्य मरुतः स किल प्रभावः।'

'श्री अरिहन्त परमात्मा का नाम यह उनकी मन्त्रात्मक देह है।' पूज्य पंन्यासजी महाराज कहते हैं, 'मोक्षगमन के समय सभी श्री अरिहन्त विश्व मे रहने वाले जीवों के उद्धार के लिए अपना मंत्रात्मक शरीर इस जगत् में छोड़ जाते है, जिससे उनकी अनुपस्थिति में भी साधक मन्त्रात्मक देह का आलम्बन पाकर और सभी पापो का क्षय कर मुक्तिपद को पा सकता है।' (तत्त्वदोहन: पृष्ठ १४०)

मुक्ति पाने के लिए भक्ति को जीवन मे स्थान देना ही पड़ता है। **'भक्ति कीजिए, शिवपद पाइए।'** भक्ति की अतल गहराई को प्रकट करते हुए महाग्रन्थ 'ललित विस्तरा' की भूमिका मे पूज्य पंन्यासजी महाराज लिखते है, "श्री तीर्थंकर देवों का वात्सल्य किसी एक जीव के प्रति नहीं, बल्कि सभी जीवो के प्रति है। उनके हृदय मे प्रत्येक जीव के लिए स्वयं से भी अधिक स्थान है।" यह तथ्य हमें 'ललित विस्तरा' ग्रन्थ के सिवाय कौन समझा सकता है ?

परमात्मा की कृपा का झरना हमारी ओर बहता ही रहता है। आवश्यकता है इस कृपा का जन्म अपने में हो, ऐसी योग्यता प्रकट करने की !

हम सब सौभाग्यशाली है कि दुःखकाल में आधार रूप होने वाले दो तत्त्व हमारे पास हैं। **'दुषमकाल जिनबिम्ब जिनागम, हम सबको आधार।'** और इसके साथ-साथ बहता हुआ आता है यह वचन,

'जिनप्रतिमा, जिन समान।' यह वचन हमे मूर्ति मे परमात्मत्व की झलक बताता है। पूज्य पन्यासजी महाराज की वाणी 'श्री अरिहन्तो के बिम्बो/मूर्तियो मे जो प्रभाव है, वह भाव-अरिहन्तो मे से आया हुआ मानना चाहिए।' तीन प्रतिष्ठाओं द्वारा धडकता हुआ परमात्मशक्ति चैतन्य हमारे हृदय मे अनोखी शक्ति सचरित करा देता है।

परमात्मा की समीपता, अद्भुत शक्ति का सचरण करती है, तो परमात्मा का विरह, उसका अदर्शन (दर्शन न होना) भववन मे भटकाता है। परम अर्हत् श्री कुमारपाल ने कहा है—

ससाररूप समुद्र मे भटकते हुए अनादि काल से—
मैं मानता हूँ कि आप कभी मेरे दृष्टिपथ मे नहीं आए।
अन्यथा नरक की असीम वेदना, हे प्रभु,
जो मैंने बडे दु ख से भोगी, वह मैंने क्यो पाई होती हे विभु?

परमात्मा के दर्शन हम करें। ऐसे दर्शन, जो अनादि काल के विरह दु ख को मिटा दे। 'वाचक जस' की अनुभवरूपी टकारयुक्त वाणी कहती है, 'पाए सुख देख मुखचन्द्रमा, विरहव्यथा का दु ख सारा मिटा दे।'

महर्षियो की भक्तिवाणी के साथ-साथ हम भी अमृत तत्त्व की खोज के लिए निकल पडें-खोज प्रारम्भ कर दें।



प्रतिमा-पूजन

❀ अनुक्रम ❀



1

परमार्थ से नास्तिक कौन ?

इस दुनिया मे ज्ञानी जितना उपकार कर सकते है, उससे भी अधिक अपकार अज्ञानी कर सकते है। सुयुक्तियो की अपेक्षा कुयुक्तियो की सख्या अधिक है। सम्यग्दृष्टि आत्माओ की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आत्माएँ अनन्तगुनी हैं, यह बात जितनी सत्य है, उतनी ही सत्य यह बात भी है कि ज्ञानियो का ज्ञानसूर्य और उसकी जाज्वल्यमान किरणें जहाँ फैलती हैं, वहाँ कैसा भी घोर अन्धकार क्यो न हो, वह एक क्षण भी नही रह सकता।

श्री वीतराग की मूर्ति की पूजा करें या नही ? इस विषय को भी बहुतो ने विवादास्पद बना रखा है। सिद्धान्तवेदी समग्र महापुरुषो ने एक मत और एक ही स्वर मे फरमाया है "श्री वीतराग देव की आराधना मुख्यतया उनकी मूर्ति के द्वारा ही सम्भव है। इसके सिवाय अन्य कोटि उपायो से भी वह सुशक्य नही है।" दूसरी ओर अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि आत्माओं ने इसके विपक्ष मे अनेक कुयुक्तियाँ उपस्थित कर ज्ञानी पुरुषो द्वारा प्रदर्शित पवित्र मार्ग को अवरुद्ध करने का प्रयास करने मे जरा भी कमी नही रखी है।

जगत् मे ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान का साम्राज्य विशेषत

व्याप्त है, इसलिए कुतर्कों का प्रभाव अज्ञानी और सरल वर्ग पर हुए बिना नहीं रह सकता। एक ओर तो स्वभावतः अज्ञान का साम्राज्य और दूसरी ओर कुतर्कों का प्राबल्य-दोनों का मिलन होने से श्री वीतरागदेव की पवित्र मूर्ति और उसकी परमकल्याणकारी उपासना से भी अज्ञानी और सरल आत्माओं का मन विचलित हुए बिना न रहे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

नास्तिक से भी, परमार्थ से नास्तिक ऐसे दिखावटी आस्तिक द्वारा विशेष अनर्थ होता है। मूर्ति नही मानने के मत की उत्पत्ति जैसे भयंकर अज्ञान में से ही हुई है, उसी प्रकार मूर्ति की उपासना को एक हिंसक कर्त्तव्य के रूप में जानने अथवाप हिचानने की कुबुद्धि भी मिथ्यात्व में से ही उद्भूत हुई है। सामान्य आत्माएँ स्वतः इस मत की भयंकर अज्ञानता और अहितकरता को समझने की स्थिति में नही होती और इसीलिए ज्ञानीजनों ने इसे समझाने का भगीरथ प्रयत्न किया है।

आत्मा और परलोक आदि विद्यमान और प्रमाण-सिद्ध पदार्थो को नही मानने वाला नास्तिक जितना अनर्थ नहीं करता है, उससे भी अधिक अनर्थ आत्मा आदि को मानते हुए भी उसके आंशिक स्वरूप को नही मानने अथवा विपरीत प्रकार से मानने वाला आस्तिक करता है, इसीलिए श्री जैनदर्शन में ऐसी आत्माएँ व्यवहार से आस्तिक मानी जाने पर भी परमार्थ से नास्तिकों की श्रेणी में ही आती है।

श्री जिनेश्वरदेव के सत्य वचनों को उसी स्वरूप में ग्रहण न कर विपरीत रूप में ग्रहण करने में भी श्री जिनशासन मे आस्तिक्य का भंग माना गया है, जो एक प्रकार की नास्तिकता ही है। प्रकट नास्तिकता से जो हानि पहुँचती है,

उसने भी अधिक हानि प्रच्छन्न नास्तिकता से हो जाती है। प्रकट नास्तिक के लिए सुसयोगवश आस्तिक बनने की जितनी सभावना है, उतनी सभावना प्रच्छन्न नास्तिक के लिए प्राय नही है, क्योकि वास्तविक प्रकार का आस्तिक नही होते हुए भी अधिकाशत आस्तिकता के मिथ्याभिमान मे मग्न होकर वह समस्त जीवन को नष्ट करने वाला होता है। □□□

रूपी प्रभु-प्रतिमा के आलम्बन मे
परमात्मा के अरूपी गुणों का
बोध होता है।
परमात्मा की प्रतिमा मे
प्रभु के वीतरागता आदि गुणो का
विचार होता है।
जिनागमो मे
जिन-प्रतिमा को जिन-तुल्य
कहा गया है।
अत
मुमुक्षु आत्मा को
जिनप्रतिमा की आशातना से
सदैव बचना चाहिए और
अपनी शक्ति-अनुसार
जिनप्रतिमा द्वारा प्रभु की भक्ति
करनी चाहिए।

2

आकार के आलम्बन की आवश्यकता

श्री जिनेश्वरदेव, उनके मार्ग पर चलने वाले निर्ग्रंथ गुरु और उनके द्वारा प्रतिपादित धर्म—इन तीनों को मानते हुए भी इन तीनों की साधना जिन-जिन विधियों से होती है, उन सब विधियों को नही मानने वाली आत्माएँ श्री जिनशासन में परमार्थ से आस्तिक नही हो सकती ।

"श्री जिनेश्वरदेव की साधना जिस प्रकार उनके नाम-स्मरण से होती है, उनके गुण-स्मरण से होती है, उनके पूर्वापर के चरित्रों के श्रवण से होती है, उनकी भक्ति से होती है, उनकी आज्ञाओं के पालन से होती है, उसी प्रकार उनके आकार, मूर्ति या प्रतिबिम्ब की भक्ति से भी होती ही है,"—यह सत्य जब तक स्वीकार न किया जाय तब तक श्री जिनेश्वरदेव की कृत उपासना भी अपूर्ण ही रहती है ।

श्री जिनेश्वरदेव की पूजा कोई कल्पित वस्तु नहीं है अथवा अपना स्वार्थ साधने के लिए किन्हीं धूर्त व्यक्तियों के द्वारा आविष्कृत वस्तु नही है । यह तो भक्त-आत्माओं के हृदय की गहरी भक्ति में से निकली हुई एक सहज और अनिवार्य वृत्ति तथा प्रवृत्ति है ।

जगत् के सभी प्राणियो की चित्तप्रवृत्ति अपने-अपने इष्ट पदार्थो के गुण-धर्म की तरह रूप-रग के प्रति स्वाभाविक रूप से झुकी हुई होती है। इतना ही नही परन्तु छद्मस्थ आत्माएँ वस्तु के गुण-धर्म की पहिचान वहुधा उसके रूप-रग के आधार पर ही करती है। मूर्त पदार्थो के गुण-धर्म भी अधिकाशत अमूर्त (इन्द्रिय अगोचर) होते हैं तो फिर अमूत पदार्थो के गुण-धर्म सम्पूर्णतया अमूर्त हो तो इसमे आश्चर्य जैसी बात ही क्या है? अमूर्त पदार्थो के अमूर्त गुण-धर्मो का स्वरूप, उनके नाम और आकार को छोड कर अन्य प्रकार से जाना जाय, ऐसा उपाय इस जगत् मे आज तक खोजा नही गया है। अमूर्त अथवा मूर्त दोनो मे से एक भी पदार्थ के सभी गुण-धर्मो और उसके स्वरूप का बोध छद्मस्थ आत्माओ को उनके नाम और आकार के आलबन के बिना लेश मात्र भी नही हो सकता। ऐसा होते हुए भी "उसकी भक्ति या उपासना उसके नाम अथवा आकार का आलबन लिए बिना ही हो सकती है" ऐसा मानना एक भयकर भूल है।

'नाम' की भक्ति का स्वीकार और 'आकार' की भक्ति का इन्कार ?

नाम की भक्ति को स्वीकार करने के वाद आकार की भक्ति की उपेक्षा करना तो और भी भयानक भूल है। उपास्य का नाम केवल उसके गुणो को लक्ष्य मे रखकर नही होता परन्तु उसके देहाकार को लक्ष्य मे लेकर होता है। यदि उपास्य का नाम केवल उसके गुणो को लक्ष्य मे लेकर होता तो प्रत्येक उपास्य को भिन्न-भिन्न नाम देने की आवश्यकता ही नही रहती। विभिन्न उपास्यो के समान गुण होते हुए भी उनके देहाकार आदि समान नही होते, इसीलिए प्रत्येक का नाम अलग-अलग होता है।

देहाकार की भक्ति का फल मानते हुए भी साक्षात् देहाकार की भक्ति को निष्फल मानना—बुद्धि की जड़ता के सिवाय और कुछ नही है।

नाम अथवा नाम की स्थापना—यह शब्दात्मक जड़-पुद्गलों से बनी हुई है; ठीक उसी प्रकार देहाकार अथवा उसकी स्थापना भी जड़ पुद्गलों से बनी है। शब्दात्मक और स्वल्प जड़ पुद्गलों की भक्ति को फलवती मानना एवम् इन्हीं शब्दों से उत्पन्न असाधारण निमित्त-स्वरूप आकारात्मक विशालकाय बने हुए जड़ पुद्गलो की भक्ति को निष्फल अर्थात् पापवर्धक मानना यह तो क्षुद्र बुद्धि का ही परिणाम कहा जा सकता है।

नाम यदि कल्याणकारी है तो यह नाम जिस स्वरूप का है, वह स्वरूप अधिक कल्याणकारी है—इसमें किसी भी बुद्धिशाली व्यक्ति के दो मत नहीं हो सकते।

सावद्य कौन ? निरवद्य कौन ?

'नाम की भक्ति निरवद्य है तथा आकार की भक्ति सावद्य है'—ऐसा तर्क करने वाले सावद्य-निरवद्य के भेद को नहीं समझ सके है। भक्ति अथवा गुण-प्राप्ति के किसी भी कार्य को सावद्य कहना—यह श्री जैनशासन को मान्य नहीं है; इतना ही नहीं किन्तु कोई भी सभ्य व्यक्ति इस कथन से सहमत नहीं हो सकता। अधिक सावद्य से बचने के लिए अल्प सावद्य के उपयोग को भी यदि सावद्य का कार्य माना जाय तो इस धरती पर कोई भी निरवद्य कार्य नही रहेगा अथवा रहेगा तो केवल एक ही—जिसमें हाथ-पैर हिलाये बिना शून्य रूप से (जड़वत्) बैठे रहना या सोए रहना होगा। दूसरे शब्दो में मृतावस्था ही निरवद्य बन कर शेष

रहेगी। सम्पूर्ण जीवित अवस्था सावद्य है। इस स्थिति को भक्ति अथवा गुण-प्राप्ति के कार्य मे आरोपित करना यह तो भक्ति तथा गुण रहित रहने एव रखने का ही एक राजमार्ग है।

बालक ज्ञानरहित एव क्रीडाशील स्वभाव का होता है। उसे ज्ञानी बनाने के लिए प्रयत्न करने पर भी, अपने खेलने के स्वभाव के कारण वह शीघ्र ज्ञानी नही बन सकता परन्तु केवल इसी बात पर बालक के अज्ञानी रहने का दोष, पढाने मे प्रयत्नशील शिक्षक को नही दिया जा सकता। शिक्षक पर ऐसा दोष लगाना जैसे अनुचित है वैसे ही सदा सावद्य जीवन जीने वाले भक्त व्यक्ति की भक्ति की क्रिया को सावद्य कहना भी अनुचित है।

मासभोजी व्यक्ति की मासाहार की आदत छुडवाने के लिए यदि कोई उपकारी उसे वनस्पति आहार की सलाह दे तो केवल इतने पर से ही वनस्पति का सेवन करने वाले अथवा ऐसी सलाह देने वाले को हिंसक मानना केवल मूर्खता ही है। इसी प्रकार यदि कोई वेश्या पतिव्रता बनने का प्रयत्न करे अथवा कोई चोर अपनी चोरी का कार्य छोडकर किसी धन्धे पर लगने का प्रयत्न करे तो वह पापी अथवा हिंसक बन जाता है—ऐसा कहना जितना निर्बुद्धिपूर्ण एव हास्यास्पद है उतना ही हास्यास्पद यह कहना है कि उपास्य परमात्मा की भक्ति का कार्य हिंसापूर्ण है।

उपास्य के आकार की भक्ति के लिए की जाने वाली हिंसा, भक्ति-निमित्तक हिंसा नही है पर वह केवल उपासक के स्वाभाविक हिंसक जीवन की अभिव्यक्ति है। उपासक के स्वाभाविक जीवन मे हिंसा समाई हुई है अत वह जितना समय भक्तिकाय मे देता है उतने समय तक वह इस स्वाभाविक हिंसा से

मुक्त रहता है। इतना ही नहीं परन्तु पूर्ण, अहिंसत्व की प्राप्ति के लिए अहिंसा धर्म की चोटी पर पहुँचे हुए परम अहिंसक परमात्मा की वह भक्ति करता है और इसके परिणामस्वरूप वह भविष्य में सावद्य से हटकर निरवद्यता की ओर अधिक से अधिक आगे वढ़ता है। अपने जीवन की स्वाभाविक सावद्यता का आरोप, भक्ति अथवा गुण-प्राप्ति के कार्यों पर करने वाला अज्ञानी ही है। इतना ही नहीं वह परमोपास्य की भक्ति के एकमात्र राजमार्ग से स्वयं भी च्युत होता है तथा दूसरों को भी च्युत करता है।

आकार को नहीं मानने की बातें अज्ञानजन्य हैं

नाम-भक्ति या आकार-भक्ति को छोड़कर केवल गुण-भक्ति की बातें करने वाले अथवा नाम-भक्ति को मानकर आकार-भक्ति को छोड़ देने वाले उपास्य की भक्ति कर सकते है—ऐसा मानना केवल आत्मवंचना है। नाम एवं आकार के विना अरूपी उपास्य अथवा उनके गुणों का ग्रहण सर्वथा असम्भव है।

नाम, आकार के वोध से उपास्य के गुणों की याद दिलाता है जवकि आकार नाम के आलम्वन विना उसके साक्षात् गुणों का स्मरण करवाता है। नाम और आकार के जगत् में रहकर नाम एवं आकार की वातों को नकारना वुद्धि का द्रोह है। अपने इष्ट की साकार भक्ति में अविश्वास करने वालों को भी प्रत्यक्ष नही तो परोक्ष रूप से अपने इष्ट से सम्वन्ध रखने वाली वस्तुओं के आकार को भक्ति में विश्वास करना ही पड़ता है।

उदाहरणस्वरूप—एक मुसलमान अपने आराध्य की प्रतिमा को सीधी तरह से मानने से इन्कार करता है फिर भी एक छोटी मूर्ति और उसके अंगों की भक्ति के बदले उसके हृदय में पूर्ण

मस्जिद, मस्जिद का पूरा आकार तथा इसके एक-एक अवयव की भक्ति आ ही पडती है। मूर्ति मे विश्वास नही रखने वाला कट्टर मुसलमान मस्जिद की एक-एक ईंट को मूर्ति की तरह ही पवित्रता की दृष्टि से देखता है तथा उसकी रक्षा हेतु अपने प्राणो की भी परवाह नही करता। मूर्ति पर नही, तो मस्जिद की पवित्रता पर उसका इतना विश्वास वैठ जाता है कि इसके लिए वह अपने प्राण देने पर अथवा दूसरे के प्राण लेने के लिए तैयार हो जाता है। मूर्ति के अपमान के स्थान पर उसे मस्जिद का अपमान खटकता है।

मस्जिद भी आकार वाली एक स्थूल वस्तु ही है। ऐसी वस्तु अपने इष्ट का साक्षात् बोध कराने के वदले परम्परा से तथा कठिनाई से बोध करवाती है जबकि इष्ट की मूर्ति इसका साक्षात् बोध करवाती है तथा इष्ट के समान ही पवित्र भाव पैदा करती है।

मुस्लिम, वाहर से मूर्तिपूजक न होने पर भी जैसे हृदय से अपने इष्ट की मूर्ति का पुजारी है, वैसे ही किसी आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी अथवा प्रार्थनासमाजी, कबीरपथी, नानकपथी अथवा तेरापथी का हृदय भी इष्ट की मूर्ति की भक्ति की उपेक्षा नही कर सकता। अपने इष्ट एव आराध्य की प्रतिमा अथवा चित्र का अपमान इनमे से कोई भी सहन नही कर सकता। मूर्तिपूजक अथवा अपूजक दोनो को ऐसे प्रसगो पर समान आन्तरिक वेदना होती है, फिर भी जब आकार को नही मानने की वात आती है तब ऐसा ही लगता है कि ऐसी वातें केवल अज्ञानजनित ही है, विश्व के पदार्थो की वास्तविक व्यवस्था के अज्ञान से ही ऐसी वातो का जन्म होता है। □□□

3

प्रतिमा की उपादेयता

विश्व के प्रत्येक पदार्थ की कम-से-कम चार स्थितियाँ होती है; नाम, आकार, पिंड और वर्तमान अवस्था। वस्तु की वर्तमान भाव-अवस्था जिस प्रकार वस्तु का बोध कराती है उसी प्रकार इस वस्तु की भूत और भावी अवस्था, इस वस्तु का आकार तथा इस वस्तु का नाम भी वस्तु का ही बोध कराते है।

कार्य-कारण सम्बन्ध :

इस जगत् में प्रत्येक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध होता ही है। ये सम्बन्ध नाना प्रकार के होते है। कोई सम्बन्ध कार्य-कारण रूप होता है तो कोई जन्य-जनक रूप; कोई स्व-स्वामित्व रूप होता है तो कोई तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति रूप होता है।

अग्नि और धुएँ का कार्य-कारण रूप सम्बन्ध है तथा कुम्हार एवं घड़े का जन्य-जनक रूप। मालिक और नौकर का स्व-स्वामित्व रूप, घड़ा और घड़े के स्वरूप का तादात्म्य रूप तथा घड़े और मिट्टी का तदुत्पत्ति रूप सम्बन्ध है। इसी भाँति शब्द एवं अर्थ का तथा स्थापना और स्थाप्य का भी परस्पर सम्बन्ध

है जो क्रम से वाच्य-वाचक तथा स्थाप्य-स्थापक सम्बन्ध कहलाता है।

जिस प्रकार धुएँ के ज्ञान के साथ इसके कारण रूप अग्नि का ज्ञान भी ज्ञाता को होता है परन्तु उसके कारण के रूप मे अग्नि को छोड कर अन्य किसी वस्तु का ज्ञान नही होता अथवा घडे को देखते ही उसके निर्माता के रूप मे कुम्हार का ज्ञान होता है न कि किसी और का अथवा तो उसके उपादान के रूप मे मिट्टी का ज्ञान होता है, परन्तु तन्तु आदि का ज्ञान नही होता है। इसी प्रकार अग्नि अथवा घडा शब्द सुनते ही प्रत्येक को अग्नि और घडे का ही निश्चित वोध होता, है, परन्तु अन्य किसी पदार्थ का वोध नही होता, अथवा अग्नि या घडे का चित्र देखकर दर्शक को अग्नि और घडे का ही स्मरण होता है, अन्य किसी पदार्थ का स्मरण नही होता है।

यह वात निश्चित रूप से यह वताती है कि कार्य-कारण सम्बन्ध की भाँति वस्तु का वाच्य-वाचक एव स्थाप्य-स्थापक आदि सम्बन्ध भी विद्यमान है। कार्य-कारण सम्बन्ध को मानना और वाच्य-वाचक सम्बन्ध को न मानना—यह अज्ञानता है। वाचक शब्द निश्चित रूप से वाच्य का वोध करवाता है अत इस सम्बन्ध मे कोई भी वुद्धिमान् व्यक्ति इन्कार नही कर सकता है।

नाम-स्थापना के दो-दो प्रकार

नाम दो प्रकार के होते हैं, ठीक वैसे ही स्थापना भी दो प्रकार की होती है। घट पदार्थ का 'घडा' ऐसा नाम तथा घडा पदार्थ रहित शरीरादि अन्य पदार्थ का 'घट'—ऐसा नाम—इसी

प्रकार घड़े पदार्थ का आकार वह भी स्थापना और घड़े का चित्रादि में आलेखन, वह भी घड़े की स्थापना।

मूल वस्तु के आकार अथवा मूल आकार की भिन्न वस्तुओं के आकार में कोई भिन्नता नहीं होती, अतः दोनों को एक ही नाम से पुकारा जाता है और दोनों अपने स्थाप्य का समान बोध कराती है। हाथी घोड़ों के प्रत्यक्ष आकार अथवा उनके चित्र, राजा-रानी के प्रत्यक्ष आकार अथवा उनके चित्रित आकार हाथी-घोड़े अथवा राजा-रानी का ही बोध कराते है, न कि किसी अन्य पदार्थ का। मूल वस्तु जिस प्रकार स्थापना से पहचानी जाती है, इसी तरह स्थापना वस्तु भी आकार से ही पहचानी जाती है। दोनों की पहिचान आकार से होने के कारण दोनों द्वारा बोध कराने का कार्य समान रूप से ही होता है।

उपास्य देव और उनकी स्थापना—दोनों की पहिचान आकार से होती है। इसलिए ये दोनों एक ही नाम से सम्बोधित होते हैं। पहिचान, स्मरण अथवा भक्ति के लिए भावपदार्थ में निहित आकार अथवा भिन्न पदार्थ में निहित आकार समान कार्य करता है। तीर्थंकर, गणधर तथा अन्य इष्ट एवं आराध्य पुरुष अपने काल में स्वयं के आकार से ही पहिचाने जाते थे क्योकि अवधि, मनःपर्यव आदि अतीन्द्रिय ज्ञानों को धारण करने वाले महर्षि भी तीर्थंकरों की अमूर्त आत्मा अथवा उनके गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान करने में समर्थ नहीं थे। वे भी उन महर्षियों को उनके औदारिक देह रूपी पिड अथवा उनके आकार से ही पहिचानते थे। तो फिर अतीन्द्रिय ज्ञान रहित अन्य छद्मस्थ आत्माएँ उन्हें उनके पिड अथवा आकार से ही पहचान पाते हैं—इसमें विशेषता क्या है ?

उपास्य को पहिचानने अथवा उनका परिचय कराने का कार्य जैसे उनके मूल आकार से होता है, वैसे ही अन्य वस्तु मे स्थापित उपास्य के आकार से भी वह कार्य हो जाता है, इससे उपास्य की आकारमय स्थापना भी उपासक के लिए उपास्य के समान ही माननीय, पूजनीय एव वन्दनीय वन जाती है। यह बात अविवादास्पद है।

यहाँ पर कोई ऐसा तर्क करते है—"पत्थर की गाय आदि उन वस्तुओ को पहचानने के लिए उपयोगी भले ही सावित हो परन्तु दूध देने के लिए तो वह निरर्थक ही है वैसे ही उपास्य की स्थापना उपास्य की पहिचान कराने का कार्य भले ही करती हो परन्तु सम्यग्दर्शनादि धर्म की प्राप्ति स्थापना से किस प्रकार हो सकती है? इसके लिए वास्तविक गाय को दुहना जिस प्रकार आवश्यक है उसी प्रकार मूल उपास्य की उपासना सार्थक सिद्ध होती है।"

उनका यह तर्क अज्ञानजन्य ही है। इसमे दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक का वैषम्य है। दूध द्रव्य है जबकि सम्यग्दर्शनादि धर्म गुण है। दूध रूपी द्रव्य की प्राप्ति गाय से करनी है, जबकि सम्यग्दर्शनादि धर्म की प्राप्ति उपास्य मे नही करनी है, परन्तु उपासक को तो उने अपनी आत्मा मे से ही प्रकट करना है। इसको प्रकट करने मे उपास्य तो केवल माध्यम है।

जिस प्रकार उपास्य का मूल पिंड व उसका आकार निमित्त रूप वनता है, इसी प्रकार उसकी स्थापना भी निमित्त रूप वन सकती है। उपासक जैसे उपास्य की उपस्थिति मे उसके मूल आकार की सेवा-भक्ति से सम्यग्दर्शनादि गुणो को ढकने वाले आवरणो को हटाकर आत्मगुणो को प्रकट कर सकता है, वैसे ही

उपास्य की अनुपस्थिति में उपास्य की स्थापना की सेवा-भक्ति द्वारा भी उन गुणों को ढकने वाले आवरणों को हटाकर आत्मगुणों को अवश्य प्रकट कर सकता है।

उपास्य की अनुपस्थिति में उसकी उपासना उपासक के लिए किसी मकान के प्लान के समान है। मकान की अनिर्मित अवस्था में कुशल कारीगर उसके प्लान को ही बार-बार देखकर भवन-निर्माण के कार्य को पूरा करता है। जब तक मकान पूरा नहीं बन जाता, कारीगर को वह प्लान हर समय अपनी नजर समक्ष रखना पड़ता है। ठीक उसी भाँति अपनी आत्मा को उपास्य के समान बनाने के लिए उपासक को, जब तक उपास्य जैसी निर्मलता प्राप्त नही हो जाती, तब तक उपास्य की स्थापना को प्रतिपल अपने सम्मुख रखना ही पड़ता है, यह सर्वथा स्वाभाविक है।

ऐसी स्थिति में कोई यह तर्क प्रस्तुत करते है—"शिल्पी की आवश्यकता भवन के प्लान को अपनी नजर के सामने रखने की है, न कि उसकी पूजा करने की। वैसे ही उपास्य के समान बनने के लिए उपासक अपने आराध्य की मूर्ति को अपनी दृष्टि के सम्मुख भले ही रखे परन्तु उसकी पूजा से क्या मतलब है? कारीगर प्लान की पूजा करे, यह जितना अघटित और हास्यास्पद है, उतना ही अघटित और हास्यास्पद जड़-स्थापना की पूजा करना है।"

यह तर्क स्थूल दृष्टि से बड़ा आकर्षक लगता है परन्तु तनिक गहराई से सोचने पर इसका खोखलापन स्पष्ट दिखाई देता है। कारीगर के लिए जिस मकान का प्लान निरन्तर देखने योग्य है, वह मकान उपासना के योग्य नहीं है, जबकि उपासक जिस देव की

प्रतिमा की पूजा करता है, वह स्थाप्य उसके लिए वन्दनीय एव पूजनीय है। प्लान से निर्मित (मकान) जिस प्रकार अपूजनीय है, इसी प्रकार जिसकी प्रतिमा है वह स्थाप्य भी यदि अवन्दनीय/अपूजनीय होता तो अवश्य उसकी प्रतिमा का पूजन आदि निरर्थक ठहरता, परन्तु यहाँ तो स्थापना के विषय मे स्थाप्य, परम उपास्य है।

साक्षात् आराध्य की उपासना से उपासक जिस प्रकार कार्यसिद्धि प्राप्त करता है, उसी प्रकार स्थाप्य की प्रतिमा की उपासना से भी उसकी कार्यसिद्धि होती है।

यदि मूल वस्तु पूजनीय है तो उसका नाम भी पूजनीय बन जाता है। ऐसी स्थिति मे उसका आकार आदि भी पूजनीय बन जाए तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है? □□□

हे प्रभो!
इस जगत मे यदि आपकी प्रतिमा
नही होती तो
हम आपके स्वरूप का कैसे जान पाते?
जिन प्रतिमा मे तो
प्रभु के स्वरूप का ज्ञान होता है।
अत
प्रभु के समान
प्रभु की प्रतिमा से भी
उतना ही उपकार होता है।

4

परमात्मा का स्वरूपबोध

जेन-शासन में उपास्य की भावावस्था की पूजा भी उपासक के शुभ परिणाम के अनुसार ही फल देती है, उपास्य की प्रसन्नता अथवा अन्य किसी नियमानुसार नहीं। क्योंकि जैन-शासन के उपास्य वीतराग होने से वे कभी प्रसन्न/अप्रसन्न नहीं होते हैं। हाँ, व्यवहार की अपेक्षा से इतना कह सकते है कि वे तारक हमेशा प्राणी मात्र पर एक समान प्रसन्न रहने वाले तथा कृपा रस से भरपूर है। इतना होने पर भी जब तक उपासक, उनके प्रति सद्भाववृत्ति वाला अथवा आराधक भाव वाला नही बनता है, तब तक वह कुछ भी फल प्राप्त नही कर सकता है।

आराधक को अपने शुभ परिणाम से ही तिरने का है, इस शुभ परिणाम की जागृति के लिए आराध्य का साक्षात् देह तथा उसका आकार जिस प्रकार वन्दन-पूजन तथा नमस्कारादि में निमित्त बनता है, वैसे ही आराध्य की स्थापना भी उनकी पूजा आदि द्वारा आराधक के परिणामों को निर्मल बनाती है।

श्री वीतराग की साक्षात् उपासना भी जैसे श्री वीतराग को लेश भी उपकारक नही है, फिर भी वह पूजक के लिए उपकारक बनती है, वैसे ही श्री वीतराग की स्थापना की उपासना भी

श्री वीतराग को किसी भी प्रकार से लाभदायक नही होने पर भी, उपासको को तो अवश्य लाभ करती है, क्योकि इसमे उपासक के गुण-बहुमान, कृतज्ञता, विनयादि गुणो का पालन अवश्य सिद्ध होता है। दोष-निवारण व गुण-प्राप्ति आदि की प्रेरणा भी अवश्य होती है। गुण-बहुमान आदि एक-एक कार्य भी महान् कर्म-निर्जरा कराने वाला है, तो फिर वे समस्त कार्य जहाँ एक साथ सिद्ध होते हैं, ऐसे श्री वीतराग की उपासना मुज्ञ पुरुषो को अत्यन्त आदरणीय बने, इसमें आश्चर्य भी क्या है!

सभी को स्थापना स्वीकार करनी ही पडती है

अपने उपास्य को वीतराग मानने वाले के लिए उसकी उपासना हेतु जिस प्रकार मूर्त्ति आदि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जो अपने आराध्य को वीतराग नही मानकर रागी मानते हैं, उनको भी, अपने आराध्य की उपासना के लिए उसकी स्थापना की आवश्यकता होती है तथा राग-द्वेष युक्त होते हुए भी अपने आराध्य को सर्वज्ञ मानने वाले, उनकी प्रतिमा द्वारा होने वाली आराधना या विराधना से प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होते हैं—यह स्वाभाविक है। ऐसे रागी और द्वेषी परमेश्वर का नाम मात्र जपने पर भी अपनी इष्टसिद्धि हो जाती है—ऐसा मानने वाले उनकी प्रतिमा की पूज्यता (जिसमे नाम-स्मरण अवश्य आ जाता है) मे विश्वास न करे अथवा इससे इष्टसिद्धि होती है—ऐसा नही मानें—यह कैसी विचित्रता है?

जो अपने इष्ट को सर्वज्ञ एव सर्वव्यापी मानते हैं, उनका कहना है कि जिस भाँति विशाल हाथी या पर्वत एक छोटे दर्पण मे प्रतिबिम्बित हो जाते हैं और उस समय उनका आकार मात्र ही छोटा बनता है परन्तु उनके शरीर के सभी अवयव वैसे ही रहते

हैं उसी प्रकार व्यापक ईश्वर की प्रतिमा की आराधना साक्षात् व्यापक ईश्वर की आराधना जितनी ही फलवती होती है।

सामान्य व्यक्ति के लिए व्यापक ईश्वर की कल्पना असम्भव है। वह तो उसकी प्रतिमा द्वारा ही सम्भव होती है और उसकी उपासना में उपासक एकाग्रता से लग सकता है।

अब जो लोग गोखला आदि की स्थापना कर अपने इष्ट को वन्दन, नमन आदि करते है, उनको स्थापना में तो विश्वास करना ही पड़ता है, परन्तु इस स्थापना में आकार आदि का साम्य न होने से ऐसे लोगों की दशा दोनों ओर से भ्रष्ट होने जैसी वन जाती है। उन्हें अपना मत छोड़ना पड़ता है और फल की प्राप्ति भी नहीं होती। जो स्थापना में तनिक भी विश्वास नही रखते, वे अपने सम्मुख किसको रखकर वन्दन, नमस्कार आदि करते है? यह अत्यन्त विचारणीय है।

किसी वस्तु को सामने रखे विना जो वन्दन, नमन करते है उन्हे विचारशून्य एवं अयोग्य आचरण करने वाले कह सकते हैं। अपने इष्ट की मानसिक-मूर्ति की कल्पना कर, उसके सम्मुख वन्दन-नमस्कारादि करते हों, तो ऐसी अदृश्य एवं अस्थिर मूर्ति को वन्दन-नमन करने से यदि फल की प्राप्ति होती है तो दृश्य एवं स्थिर मूर्ति के सम्मुख साक्षात् वन्दन-नमन करने से अपेक्षाकृत अधिक ही फल मिलता है—इस बात से वे कभी इन्कार नहीं कर सकते। ऐसी मानसिक मूर्ति की कल्पना करने की शक्ति सामान्य व्यक्ति मे सम्भव नही है। इतना ही नहीं परन्तु उस मूर्ति का कल्पित रूप ध्यान में लाने की शक्ति भी, दृश्य एवं स्थिर मूर्ति को देखने से ही आ सकती है अतः सही रूप

मे कल्पित मूर्ति से, दृश्य मूर्ति ही अधिक उपकारक होती है, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है ।

श्री जैनशासन के अनुयायी अपने इष्ट एव उपास्य के रूप मे सर्वज्ञ और वीतराग परमात्मा को मानते हैं। ये परमात्मा मोक्ष जाने मे पूर्व देहधारी होते हैं, इसीलिए जैनो के लिए अपने आराध्य का तत्कालीन आकार अवश्य पूजनीय है। अशरीरी परमात्मा शास्त्र-रचयिता कभी भी नही बन सकते हैं।

जो अपने इष्ट परमात्मा को शास्त्रो एव तत्त्वों के निरूपक के रूप मे मानते हैं, उन्हे अपने इष्ट का देह-धारण मानना ही पडेगा। कारण यह है कि देहधारण विना, मुख का होना असम्भव है और मुख के विना उपदेशक बनने की स्थिति भी असम्भव है। अपने परमात्मा को सर्वथा एव सर्वदा शरीर-रहित मानने वालो को यह भी मानना पडेगा कि इनके शास्त्र ईश्वर-रचित नही परन्तु ईश्वर को छोडकर किसी अन्य अल्पबुद्धि एव अल्पशक्ति वाले के कहे हुए है और उनके शास्त्रो की प्रामाणिकता सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान् परमात्मा के वचनो के बराबर कभी नही बन सकती है।

जैनो की मान्यता :

जैन अशरीरी सिद्धो की पूजा करते है। सिद्धावस्था को प्राप्त करने के लिए इन आत्माओ ने जो कुछ भी प्रयोग किये हैं, वे उनकी साकार और देहयुक्त अवस्था मे ही हुए है अत इस अवस्था की पूजनीयता भी जैनो को निश्चित रूप से मान्य है।

जैन परमात्मा को साकार और निराकार-दोनों रूपों में मानते हैं। साकार परमेश्वर को वीतराग एवं सर्वज्ञ मानने के साथ-साथ ही उन्हें शास्त्र और तत्त्वों के उपदेशक भी मानते हैं। इसीलिए इनको निराकार एवं साकार परमेश्वर की वे सभी अवस्थाएँ वन्दनीय, नमनीय एवं पूजनीय है। यदि वे उपकारियों की ऐसी भावदशा को भी वन्दनीय न मानें तो गुणवान होते हुए भी वे सर्वगुण-सम्पन्न आत्माओं का आदर करने वाले नहीं बन सकते तथा उपदेश आदि द्वारा स्वयं के ऊपर किये गये अतुलनीय उपकारों को नही पहचानने वाले सावित होते हैं। ऐसी स्थिति निष्ठुर एवं कृतघ्न की ही सम्भव है; अन्य की नहीं। वीतराग, सर्वज्ञ तथा तत्त्वोपदेशक परमेश्वरों की पूजनीयता को स्वीकार करने में किसी भी सज्जन व्यक्ति को तनिक भी आपत्ति नहीं हो सकती।

गुण-वहुमान एवं कृतज्ञता आदि गुणों की कीमत समझने वाले तो, ऐसे सर्वश्रेष्ठ, उपकारी तथा महानतम गुणों से युक्त महापुरुषों की सेवा, पूजा, आदर, भक्ति, वन्दन, स्तुति आदि अधिक से अधिक हों—इस बात में विश्वास रखते है। इस सेवा-पूजा से उन पूजनीय महापुरुषों को कोई लाभ न होते हुए भी उनमें ध्यान लगाने वाली आत्माओ को अपने पवित्र उद्देश्य के परिणामस्वरूप कर्म-निर्जरादि उत्तम फल की प्राप्ति अवश्य होती है।

श्री जैनशासन में पूजा की फल-प्राप्ति हेतु पूज्य की प्रसन्नता की अपेक्षा पूजक की शुभ भावना को ही आधारभूत माना गया है। पूज्य की भाव-अवस्था का पूजन भी उपासक की गुणग्राहकता तथा कृतज्ञतादि गुणों के आधार पर ही फल देने

वाला होता है। ऐसी दशा मे इन्ही गुणो के शुभ अध्यवसाय से तथा आत्मशुद्धि को प्राप्त करने के शुभ सकल्प से प्रतिमा के माध्यम से पूज्य की वन्दना, उपासना आदि हो तो वे कर्मनिर्जरादि उत्तम फल को निश्चित रूप से देने वाली होती हैं।

'देव-गुरु आदि की आराधना से होने वाली कर्म-निर्जरा आराध्य द्वारा प्रदत्त नही होती, किन्तु देव-गुरु आदि के आलम्बन के कारण आराधक को हुए शुभ परिणाम के अधीन है, यह बात हम ऊपर देख चुके हैं।

भाव-अवस्था की आराधना भी यदि आराधक की शुभ भावना के आधार पर ही फलवती होती है तो फिर मूर्ति अथवा स्थापना द्वारा होने वाली आराधना मे तो आराधक के शुभ अध्यवसाय रहते ही है। ऐसा कौन कह सकता है कि ये अध्यवसाय शुभ नही होकर मलिन हैं? भाव-अवस्था की आराधना आराध्य के उपस्थिति-काल मे ही करने की होती है क्योकि ऐसी स्थिति मे आराध्य की उत्तमता तथा उपकारिता आदि को साक्षात् देखने से भक्ति की जागृति स्वाभाविक है।

जब आराध्य की स्थापना द्वारा भक्ति, आराध्य के अनुपस्थिति काल मे करने की होती है तब आराध्य की श्रेष्ठता और भक्ति पात्रता, उपदेश, शास्त्र एव परम्परा द्वारा हृदय मे ठसी हुई होती है। भावावस्था की आराधना करने वालो की अपेक्षा स्थापना द्वारा आराधना करने वालो की भक्ति एव पूज्यता की बुद्धि अधिक स्थिर बनी हुई है, ऐसा मानना चाहिए।

उपकारी की जीवितावस्था मे उनके उपकारो के स्मरण की

अपेक्षा उसकी अनुपस्थिति में उसके उपकारों का स्मरण करने वाला उपकारी के प्रति कम आदर वाला होता है, ऐसा तो कहा ही नहीं जा सकता परन्तु अधिक आदर करने वाला होता है, ऐसा कहा जाय तो भी गलत नही है। व्यक्ति की उपस्थिति की अपेक्षा उसकी अनुपस्थिति में उसको याद करने वाला उसका सच्चा अनुरागी कहा जाता है। इसी प्रकार पूज्य की विद्यमान दशा के वदले उसकी अविद्यमान दशा में उसकी भक्ति सच्चे एवं अन्तरंग भाव वाले के अलावा अन्य किसी से नहीं हो सकती, ऐसा स्वीकार करना ही पड़ेगा।

'हृदय में भक्ति-भाव के विना भी दिखावे के कारण स्थापना की भक्ति करने वाले वहुत नजर आते हैं'—ऐसा तर्क करने वालों को समझना चाहिए कि यह स्थिति जिस प्रकार स्थापना के लिए है उसी प्रकार भाव-अवस्था की भक्ति के लिए भी है। भाव-अवस्था की भक्ति करने वाले सभी हृदय से व सच्चे भाव से करते है—ऐसी वात नहीं है। देखा-देखी, लोभ, लालच, माया अथवा अन्य कुवुद्धि के वश होकर भी भक्ति करने वाले होते है। यही वात स्थापना के लिए भी सम्भव है परन्तु भावावस्था की भक्ति करने वालों की तरह कई ढोंगी और पाखंडी भी होते है— इससे सभी वैसे हो जाते है, ऐसा तो कोई भी नहीं कह सकता। इसी तरह स्थापना की भक्ति करने वालों में भी कई झूठे होते है, पर इससे सभी वैसे हो जाते है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार आराध्य की अनुपस्थिति में उनके आदर से होने वाली फल–प्राप्ति के लिए स्थिर एवं शुद्ध भक्ति की आवश्यकता है। भक्ति की यह स्थिरता और शुद्धता आराधक को अत्यन्त शुभ फल देने वाली होती है, यह निर्विवाद है। □

5

जिनमन्दिर की आवश्यकता

स्थापना की भक्ति अपेक्षाकृत पूजक के अधिक आदर की सूचक है। यह बात सिद्ध होने के पश्चात् स्थापना की भक्ति आदि के लिए मन्दिर आदि की कितनी अधिक आवश्यकता है, यह समझना और समझाना बहुत ही सुगम हो जाता है। कोई भी शुभ प्रवृत्ति उसके लिए अलग स्थान बिना स्थिर नही हो सकती है।

विद्याभ्यास या कला-कौशल के अभ्यास के लिए विद्यालय, कॉलेज एव युनिवर्सिटी आदि के स्वतन्त्र भवनो की आवश्यकता सबसे पहले होती है। ठीक उसी भाति देवभक्ति, गुरुभक्ति अथवा धर्मक्रिया आदि करने के लिए भी पृथक स्थानो के निर्माण बिना उनकी निर्विघ्न प्रवृत्ति सम्भव नही है।

जो लोग स्कूल, कॉलेज, यूनिवर्सिटी, बोर्डिंग-हाउस, ज्ञान-शाला, दानशाला, धर्मशाला, औषधालय एव प्रसूतिगृह आदि के निमित्त स्वतन्त्र भवन की सलाह देते है, वे ऐसा कभी नही कह सकते हैं कि देवभक्ति के लिए स्वतन्त्र मकान की जरूरत नही है। फिर भी वे यदि ऐसा कहने के लिए तैयार हो जाते है तो समझ लेना चाहिए कि ऐसे लोगो को अन्य पदार्थों के लिए जो लगन है,

इतनी भी देवभक्ति के लिए नही है। अन्य सभी कार्य जितने आवश्यक हैं उतनी ही देवभक्ति भी आवश्यक है, अथवा अन्य सभी कार्यों की तुलना में देवभक्ति अधिक आवश्यक है, ऐसा मानने वाला वर्ग ऐसे मनोहर एवं रमणीय देवालयों की आवश्यकता को स्वीकार किये विना नही रह सकता, जहाँ अधिक सुगमतापूर्वक देवभक्ति हो सकती है।

देवभक्ति के लिए अलग से यदि विशाल और मनोहर मन्दिर हों, तभी ऐसे क्षेत्रों मे अच्छे साधुओं का आवागमन सुलभ एवं सम्भवित वनता है। अच्छे साधुओं को गृहस्थों के वैभव और समृद्धि से कोई प्रयोजन नही होता; अतः जैसे-तैसे क्षेत्रों में उनका विहार नही होता। सुसाधु अधिकतर ऐसे क्षेत्रों में विहार करते है, जहाँ जिनेश्वरदेव की भक्ति के लिए अधिक संख्या में सुन्दर मन्दिर आदि वने होते है। इसका कारण यह है कि ऐसे ही क्षेत्रों में अच्छे श्रावकों और धर्मार्थी आत्माओं का विशेष रूप से होना सम्भव है; साथ ही साथ इसी कारण वहाँ संयम की सुरक्षा, वृद्धि आदि भी आसानी से हो सकती है।

साधु-समागम की सुलभता का यदि कोई प्रधान साधन है तो वह जिनेश्वरदेव की भक्ति के लिए वने पर्याप्त सुन्दर मन्दिर ही हैं। इन मन्दिरों के अभाव में साधुओं का आगमन प्रायः असम्भव-सा वन जाता है तथा साधु-समागम विना सुपात्र-दान, श्री जिनवचन का श्रवण तथा संसार से छुटकारा पाने के लिए अत्यन्त उपयोगी सम्यग्दर्शन, देशविरति तथा सर्वविरति आदि गुणो के लाभ से हमें वंचित रहना पड़ता है। केवल इतना ही नही सार्धमियो के दर्शन भी दुर्लभ वन जाते है।

परिणाम यह होता है कि ऐसी स्थिति में सार्धमिक की भक्ति

आदि सम्यक्त्व को निर्मल वनाने वाले आचरण का पालन भी अशक्य बन जाता है।

श्री जैनशासन मे साधुओ का किसी एक स्थान पर नित्य-वास निषिद्ध है क्योकि उससे श्रावको के साथ उनका स्नेह बढता है तथा ममत्व की प्रवृत्ति का पोषण होता है। परिणाम-स्वरूप धर्मभावना की वृद्धि के बदले हानि होती है, परन्तु श्री वीतराग परमात्मा की पावन प्रतिमा से अधिष्ठित हुए मन्दिर के सम्बन्ध मे ऐसा कुछ नही बनता। इस स्थान पर सर्व साधारण समान भक्ति भाव से सदा-सर्वदा आ सकते है।

श्री जिनमन्दिर किसी भी वर्ग विशेष के पक्षपात अथवा अनुराग का कारण नही बनता, अत वह हमेशा समान रूप से सभी की भावनाओ की अभिवृद्धि का स्थान बना रहता है। सर्वगुणसम्पन्न परमात्मा की अध्यक्षता वाले जिनमन्दिर के विषय मे इस बात का अनुभव प्रत्येक जिज्ञासु को प्रत्यक्षसिद्ध है। जब किसी साधु के एक ही स्थान पर एक, दो या अधिक चातुर्मास हो जाते हैं तो ऐसे स्थान पर पक्षपात आदि के अनेक प्रसग बन पडते है पर श्री जिनेश्वरदेव से अधिष्ठित मन्दिर सैकडो अथवा हजारो वर्षो तक एक ही ढग से धर्मवृत्तियो का पोषण करने वाले होते हैं तथा इनके आलम्बन से सभी लोग समानधर्मीपन की भावना को दृढ बना सकते हैं।

जैनशास्त्रो के कथनानुसार श्री तीर्थकरदेवो के विद्यमान-काल मे अर्थात् चौथे आरे मे धर्मात्माओ की वस्ती वाले प्रत्येक गाँव मे जिनमन्दिरो की अधिकता होती थी और ऐसे तारक मन्दिरो के आलम्बन से ही उस समय के लोगो को भी अनेक प्रकार के धार्मिक लाभ होते थे।

धर्म भावना को बनाये रखने के लिए जिस प्रकार मन्दिरों की जरूरत है उसी प्रकार लोभ और परिग्रह के पाप से उपार्जित द्रव्य के सद्व्यय के लिए भी जिनमन्दिरों की खास आवश्यकता है। धर्म के लिए धन अर्जित करने का जैनशासन में कोई विधान नही है परन्तु पापसंज्ञाओं के कारण उपार्जित द्रव्य का सदुपयोग करने का तथा उत्तम धर्मक्षेत्रों मे दान देकर उत्तम फल प्राप्त करने का तो जैनशासन में विधान अवश्य है।

परमात्मा के उपदेश अथवा शासन से धर्म को प्राप्त आत्मा संग्रह किये हुए अस्थिर एवं विनाशी द्रव्य का उपयोग, परमात्मा के मन्दिर आदि के लिए न करे, तो वह रंक आत्मा सर्वसमर्पण-बुद्धि से, परमात्मा की आज्ञापालन के लिए कैसे तैयार होगा? परमात्मा की आराधना हेतु, परिग्रह की ममता कम करने के लिए अथवा गृहस्थावस्था में उदारता आदि सद्गुणों की सर्वोत्कृष्ट फल-प्राप्ति तथा श्री जिनभक्ति के लिए मन्दिरों एवं मूर्तियों से बढ़कर सुन्दर स्थान जगत् भर में अन्यत्र कहाँ मिल सकता है?

परमात्मा के शासन का अपने ऊपर अतुल भावोपकार है—इस बात को समझने वाले पुण्यात्मा, परमात्मपरायण बनने के लिए मन्दिर एवं मूर्ति पर होने वाले अधिक से अधिक धनव्यय को कम ही मानते है तथा इससे विपरीत दिशा में होने वाले धन-व्यय को अनर्थकारी एवं सांसारिक बन्धनों में जकड़ने वाला मानते हैं। प्रभुशासन को प्राप्त गृहस्थ तो ऐसा मानते है कि जिनभक्ति आदि में उपयोग में नहीं आने वाला द्रव्य प्रायः स्वयं की तथा स्वयं के वंशजों की परिग्रह-भावना का पोषक होता है। केवल इतना ही नही पर वह तो उनको तथा उनकी संतति को विलासिता के मार्ग पर आगे बढ़ाकर उन्हें अधोगति में धकेलने वाला बनता है।

पुत्र-पौत्रो आदि को दी हुई सम्पत्ति अधिकाशत ऐसे लोगो के स्वामित्व मे चली जाती है, जो धर्म-परायण नही है तथा उस पर अधिकार भी ऐसे ही वर्ग का बन जाता है।

मन्दिर एव मूर्ति पर किया हुआ धनव्यय नष्ट नही होता, पर वह रूपान्तरित हो जाता है, जबकि भोगो के उपभोग मे, ऐश-आराम मे तथा मौज-शौक के साधनो पर खर्च किया हुआ धन क्षणिक फल देकर पूर्ण रूप से नष्ट होता है तथा भोक्ता के लिए अनर्थ एव उन्मादवृद्धि का कारण बनता है और उस मार्ग मे व्यय किया हुआ एक पैसा भी परमात्मा अथवा उसके पवित्र शासन की आराधना के मार्ग मे उपयोगी नही बनता।

अविनाशी और अपार सुख से भरपूर मोक्ष एव इसकी प्राप्ति के पथप्रदर्शक तथा आत्म-तत्त्व और अनात्म-तत्त्व का भेद समझा कर आत्म-तत्त्व के उपासक बनाने वाले परमात्मा के मनोहर मन्दिरो मे एव इन तारको की सुन्दर प्रतिमाओ मे सर्वस्व अर्पित कर देने की भावना कृतज्ञ आत्माओ मे न हो, ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसी बुद्धि कृत्रिम या निरर्थक नही होती परन्तु स्वाभाविक एव सार्थक होती है।

धर्म-दृष्टि से यह धन-व्यय, आत्मा को परमात्मा बनाता है, व्यवहारदृष्टि से मूर्ति और मन्दिर के रूप मे जगत् मे स्थायी रहता है तथा दीर्घ-काल तक अनेक का उपकार करता हुआ बना रहता है। जीवन मे प्राप्त पदार्थो का श्रेष्ठतम उपयोग कराने वाला यदि कोई भी मार्ग है तो वह इस प्रकार श्री जिनमन्दिर और श्री जिनमूर्ति आदि की भक्ति मे होने वाला धनव्यय ही है। धन के सद्व्यय का इससे श्रेष्ठ मार्ग अन्य नही हो सकता, क्योंकि दूसरा कोई भी मार्ग इस प्रकार कल्याणकारी हो, ऐसा सम्भव नही है।

6

क्या जिनपूजा में हिंसा है ?

'श्री जिनेश्वरदेव की भक्ति के लिए मूर्ति एवं मन्दिरों पर होने वाला धनव्यय निरर्थक नहीं अपितु सार्थक है' इतना स्वीकार करने के बाद भी कई लोगों के मन में एक शंका काँटे की तरह चुभती है —"श्री जिनपूजा में पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के जीवों का विनाश होता है तो ऐसी पूजा किस प्रकार उपादेय बन सकती है ? अहिंसक शासन में हिंसक प्रवृत्ति धर्म बनती है, ऐसा प्रतिपादन करना क्या असंगत नहीं है ?"

ऐसी शंका का जन्म जिनशासन की अहिंसा के वास्तविक ज्ञान के अभाव में होता है। 'जिसमें जीवहत्या होती है, वह सारी क्रिया ही हिंसक है' अथवा जीव का वध होना, इसी का नाम हिंसा है, ऐसा जैनशास्त्र ने कभी नहीं कहा। जैनशास्त्रानुसार—'विषय-कषायादि की प्रवृत्ति करते अन्य जीवों को प्राणहानि पहुँचाना, इसी का नाम हिंसा है।' विषय-कषायादि की प्रवृत्ति बिना होने वाले प्राण-नाश आदि को भी हिंसा मान लिया जाय तो दान आदि एक भी धर्म-प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इन सब में जीववध तो समाया हुआ ही है।

यदि जिनपूजा के कार्य में जीववध है तो गुरुभक्ति, शास्त्र-

श्रवण, प्रतिक्रमण आदि कार्यो मे क्या जीववध नही है ? अवश्य है, परन्तु उसमे उद्देश्य जीववध का नही, पर गुरुभक्ति आदि का है, अत ऐसी दशा मे इसे हिंसा का कार्य नही कहा जा सकता। इसी भाँति जिनपूजा मे भी उद्देश्य जिनभक्ति का है, अत उसे हिंसक कार्य कैसे कह सकते हैं ? केवल जीववध को ही यदि हिंसा का नाम दे दिया जाय तो नदी पार करने वाले तथा गाँव-गाँव विहार करने वाले साधु को भी हिंसक ही कहा जाएगा। साथ ही लोभ आदि परिषह को सहने वाले तथा उग्र तपस्या द्वारा शरीर को सुखाने वाले एव महाव्रतो के सरक्षण हेतु अवसर आने पर अपने प्राणो की वलि देने वाले भी हिंसा का कार्य करने वाले हैं, ऐसा कहना पडेगा।

इसके जवाब मे यदि ऐसा कहा जाय कि इन सब कार्यो के लिए भगवान की अनुमति है—तो इसके साथ ही प्रश्न करना पडेगा कि क्या हिंसा के कार्यों के लिए भगवान कभी आज्ञा देते हैं ? क्या ऐसा हो सकता है कि भगवान् को हिंसा करने की तो नही पर करवाने की छूट है ? पर नही, भगवान भी त्रिकरणयोग से हिंसा के त्यागी होते ह। यदि इन कार्यो मे हिंसा ही होती तो भगवान कभी भी ऐसी आज्ञा नही देते। परन्तु नदी पार करना आदि कार्य सयमरक्षा के लिए है, न कि भौतिक सुख पाने के लिए, इसलिए उन प्रवृत्तियो को हिंसक नही पर अहिंसक माना गया है।

यहाँ ऐसा तर्क होना भी स्वाभाविक है—"श्री जिनपूजा भक्तिस्वरूप होने मे उसमे होने वाली विराधना यदि हिंसा नही है तो पचमहाव्रतधारी साधु द्रव्यपूजा क्यो नही करते ?"

इसका उत्तर यह है कि साधुओ के द्रव्यपूजा नही करने का

कारण यह नहीं है कि यह हिंसा-कार्य है परन्तु यह है कि वे द्रव्य के त्यागी होते है। अधिकार-विशेष से क्रिया-भेद होता है। द्रव्यपूजा के अधिकारी द्रव्य को धारण करने वाले होते है। साधुओं को स्नान नहीं करने की प्रतिज्ञा होती है, स्नान द्रव्यपूजा के लिए आवश्यक है, इसलिए साधुओं के लिए यह कार्य उनकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध है।

गृहस्थ स्नान करने वाले होते है तथा द्रव्य के संगी भी। इसलिए भक्ति के निमित्त द्रव्यपूजा उनके लिए आवश्यक है और उसमें प्रमत्तयोग नहीं होने से अनिवार्य रूप से होने वाला प्राणनाश, हिंसा रूप नही है। औषधि रोगी के लिए लाभदायक है अतः स्वस्थ वैद्य को भी इसका सेवन करना चाहिये, ऐसा नियम नही बनाया जा सकता। द्रव्यपूजन आरम्भ एवं परिग्रह के रोग से पीड़ित आत्माओं को उस रोग से छुटकारा दिलाने के लिए अर्थात् आरम्भ और परिग्रह के विचार एवं आचरण से दूर रखने के लिए विहित किया हुआ है।

साधु आरम्भ और परिग्रह के रोग से मुक्त है अतः उनको द्रव्यपूजन रूपी औषधि लेने की आवश्यकता नही है।

यहाँ एक दूसरा ऐसा तर्क भी उठने की सम्भावना है कि— "पृथ्वीकायादि के आरम्भमय द्रव्यपूजन से निरारम्भमय सर्वविरति के ध्येय की सिद्धि किस प्रकार होती है?"

इसका सीधा और सरल उत्तर है कि जिन गुणों के प्रति जिस मनुष्य की अत्यन्त श्रद्धा होती है, वह उन गुणों को प्राप्त करने के अध्यवसाय वाला होता ही है और उसे वह शुभ अध्यवसाय ही अनन्त निर्जरा करवाने वाला बनता है। ऐसी

निर्जरा से आत्मा निर्मल वनकर स्वय के क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक गुणो को प्राप्त करती है।

गुणप्राप्ति होने से गुणवान के वचनो के प्रति श्रद्धा बढती है। इस श्रद्धा की तीव्रता मे ज्यो-ज्यो वृद्धि होती है, त्यो-त्यो आत्मा मे गुणवान के वचनानुसार आचरण करने की तत्परता जगती है। आचरण की इस तत्परता मे से वाहरी व भीतरी सभी सयोगो का भोग देने की तैयारी उत्पन्न होती है। इसी का नाम सर्वविरति है। इस प्रकार परम्परा से प्रभु-मूर्त्ति का पूजन सर्वविरति के ध्येय को पाने का साधन वन सकता है। इतना अवश्य है कि श्री जिनेश्वर भगवान की प्रतिमा को पूजने वाले सभी लोग उसी भव मे सर्वविरति के ध्येय को पहुँच जायें, ऐसा कोई नियम नही है।

सर्वविरति अगीकार करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इसी भव मे मोक्षप्राप्ति नही होती तो भी सर्वविरति की आराधना निष्फल नही मानी जाती। इस प्रकार कई भवो तक विराधना का वर्जन तथा आराधना का सम्पादन होने के पश्चात् ही सर्वविरति भवान्तर मे मोक्ष प्रदान करती है। इसी प्रकार अविधि मे बचता हुआ और विधि का पालन करता हुआ द्रव्यपूजा करने वाला साधक भवान्तर मे सुगमता से सर्वविरति तक पहुँच सकता है, क्योकि श्री जिनेश्वर भगवान की पूजा करने वाला इनके राज-वैभव अथवा सुखसमृद्धि को सम्मुख रखकर उनको नही पूजता परन्तु वह तो आरम्भ-समारम्भ और विषय-कषाय के पूर्ण त्याग से सेवित अनगारपने की पूजा करता है। इस प्रकार भगवान का पूजन सर्वविरति आदि गुणो की ओर अत्यन्त श्रद्धा धारण करके होता है अत वह सर्वविरति को दिलाने वाला होता है।

क्या प्रभु-पूजा के अर्थी हैं ?

किसी को ऐसा तर्क सम्भव है "श्री जिनेश्वरदेव हिंसा का त्याग करने के लिए साधुओं को संसार-त्याग का उपदेश दें, तीव्र कष्टों को सहन करने का कहें तथा अन्त में प्राणत्याग तक की बात कहें पर अपनी स्वयं की पूजा के लिए हिंसा आदि हो तो भी इसका निर्जरादि फल बतावें तो क्या यह उचित है ?"

इसका जवाब है कि दूसरे मतों की अपेक्षा जैन मत में श्री जिनेश्वर ऐसी कोई एक आत्मा नहीं है। ऐसी आत्माएँ अनन्त हो गई हैं और अनन्त होने वाली हैं। इन सब आत्माओं की पूजनीयता का निरूपण करना तथा उसमें व्यक्तिगत पूजा के हेतु की कल्पना करना, सर्वथा विरुद्ध है। समुदाय की भक्ति के निरूपण में व्यक्तिगत पूजा के प्रवर्तकपने की कल्पना करना भयंकर दोषदृष्टि है।

कोई सज्जन, दुर्जन की संगति से होने वाली हानियाँ तथा सज्जन की संगति से होने वाले लाभ बतावे, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ऐसा कहकर वह अपनी महत्ता बताने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि सुपात्र-दान का उपदेश देने वाला साधु स्वार्थी है।

कोई साधु उपदेश देते समय यह कहे कि साधु महात्मा के नाम-गोत्र के श्रवण मात्र से बहुत लाभ होता है, उनके सम्मुख जाकर वन्दन-नमन करने, सुखशाता पूछने तथा उनकी अनेक प्रकार से पर्युपासना करने में अत्यधिक लाभ है। यह उपदेश किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य कर नहीं दिया गया है, अतः ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उपदेशक अपनी स्वयं को पूजा का

अभिलाषी है। साथ ही हम यह भी नही कह सकते कि साधु के सम्मुख जाने आदि मे होने वाली जीव-विराधना के पाप का भागी वह उपदेशक बनता है।

उपदेशक का इरादा तो श्रोता के आत्मकल्याण का है न कि जीवविनाश का। श्री जिनेश्वर देव तो क्षीणमोही एव वीतराग हैं। उन पर स्वय की पूजा की अभिलाषा का आरोप लगाना पूर्णतया अज्ञानता का कार्य है।

सर्वविरति द्वारा चौदह राजलोक के सर्व जीवो को अभयदान दिया जाता है। इसकी प्राप्ति हेतु एकेन्द्रिय जीवो की स्वरूप-हिंसा वाली पूजा न्याययुक्त तथा अधिक लाभदायी है। इस पूजन द्वारा एकेन्द्रिय से बढकर द्वीन्द्रिय आदि का वर्ग रक्षणीय है और परम्परा मे एकेन्द्रिय वर्ग भी रक्ष्य है। पशुवध की पूजा मे ऐसा नही है, क्योकि पचेन्द्रिय से बढकर किसी जीव का वर्ग है ही नही और अपने भले के नाम पर होने वाला पचेन्द्रिय के वध वाला कार्य धर्मकार्य माना भी नही जा सकता, क्योकि यह मानवता के भी विरुद्ध है।

अहिंसा से चारित्रावरणीय कर्म नष्ट होता है वैसे ही सर्वविरति के ध्येय से होने वाली पूजा भी चारित्रमोहनीयादि दुष्ट कर्म की प्रकृतियो का नाश करती है। दोनो से एक ही कार्य की सिद्धि होने मे अहिंसा तथा श्री जिनपूजा उत्सर्ग-अपवाद रूप बन सकते हैं परन्तु स्वर्गादि समृद्धि के लिए पचेन्द्रिय जीव का वध करके पूजन करने मे हिंसा और परिग्रह दोनो पापो का पोषण होता है और इसमे उत्सर्ग अपवादरूप नही बन सकता। प्राप्त किये हुए सयम को बनाये रखने के लिये नदी उतरने मे लाभ होता तो

अप्राप्त संयम की प्राप्ति के लिए देवपूजादि में प्रवृत्त होने वाले को लाभ क्यों नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा ही।

श्री जिनेश्वरदेव की पूजा के पीछे गुणप्राप्ति, वैराग्य, मार्गानुसारिता, दुःखक्षय और कर्मक्षय आदि आत्मकल्याणकर वस्तुओं का ही ध्येय है। ऐसे उत्तम ध्येय से पूजन करने वाला यदि हिंसा के फल को प्राप्त होता है तो फिर अहिंसा के फल को कौन प्राप्त कर सकता है ? इसकी खोज करना असम्भव है। श्रावक यदि द्रव्यपूजन करता है तो अपने व्रत-नियमों का भंग करके तो नही करता।

श्री जिनेश्वर देव की पूजा में पशु आदि का अथवा अभक्ष्य पदार्थों का नैवेद्य नहीं रखा जाता और न अपेय वस्तुओं से प्रक्षालन करना होता है। बड़ा झूठ अथवा बड़ी चोरियाँ करके भी पूजा करने की नही होती। कम से कम देशविरति धर्म की भूमिका से नीचे गिराने वाला एक भी कार्य श्री जिनपूजा मे करने का नहीं होता है।

सचित्त पानी, वायुवींझन, अग्निसमारम्भ, वनस्पतिभक्षण, कच्ची मिट्टी और कच्चा नमक जिसने छोड़ दिया हो उसको पूजा की आवश्यकता नहीं है। परन्तु जो धन कमाने अथवा शरीर शुश्रूषादि के लिए दया के विचार से भी रहित है, अभक्ष्य एवं अनन्तकाय तक के पदार्थों का सेवन जिसने नही छोड़ा, ऐसे लोग केवल जिनपूजा के लिए काम में लाये जाने वाले जल, पुष्प आदि की विराधना को ही जो बड़ा रूप दे देने में प्रयत्नशील हों तो समझना चाहिए कि वे मिथ्यात्व से ग्रस्त एवं भयंकर दुराग्रह से पीड़ित है।

पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि और प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य, देवता और नरक वगैरह स्थानो मे रहने वाले जितने भी जीव हैं इनसे भी अनन्तगुणे जीव सुई के अग्रभाग जितने अनन्तकाय मे हैं। इनका उपभोग करने मे भी जिनको सकोच नही, ऐसे लोग पृथ्वी आदि के अनन्त भाग के जीवो मे होने वाली स्वरूपहिंसा की बात को आगे कर श्री जिनपूजा जैसे परमोच्च कर्त्तव्य को धिक्कारते हैं, यह बात ही बताती है कि उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय तथा विवेकहीनता की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई है। किसी सती को अपने पति के साथ बात करते देखकर यदि कोई वेश्या उसकी हँसी करे अथवा तिरस्कार करे तो उसका यह कार्य जितना नासमझी का है, उतना ही अथवा इससे भी बढकर नासमझी का कार्य उन लोगो का है।

जिनपूजा से लाभो की परम्परा :

श्री जिनेश्वरदेव के मनोहर मन्दिर, उनमे प्रतिष्ठित रमणीय प्रतिमाएँ तथा उनकी आनन्ददायक पूजा आदि देखकर लघुकर्मी भव्यात्माएँ सम्यग्दर्शनादि आत्मगुणो को प्राप्त करने वाली बनती हैं तथा परम्परा मे देशविरति, सर्वविरति आदि उच्च कक्षाओ को प्राप्त कर, सर्व-कर्म-रहित बनकर अनन्तकाल तक सभी जीवो को अभयदान देने वाली बनती हैं। इसीलिए सम्यग्दर्शनादि भाव धर्मों की प्राप्ति के साधनो को श्री जैनशासन ने परम उपकारक गिना है।

जगत् मे दया दो प्रकार की है एक द्रव्यदया व दूसरी भावदया। द्रव्यदया की अपेक्षा भावदया अनन्तगुनी श्रेष्ठ है। द्रव्यदया केवल द्रव्य-प्राणो के उद्देश्य से है तो भावदया भाव

प्राणों के उद्देश्य से है। द्रव्य-प्राणों का जीवन अल्पकालीन होता है; भाव-प्राण अनन्तकाल तक रहते हैं। द्रव्य-प्राणों के धारण-पोषण से होने वाला सुख थोड़ा और क्षणस्थायी होता है। भाव-प्राणों के आविर्भाव से होने वाला सुख निरवधि एवं चिरस्थायी है।

द्रव्यदया करने वाला केवल कुछ लोगों के कुछ दु:खों को कुछ समय के लिए दूर कर सकता है जबकि भावदया करने वाला सभी जीवो के सर्वकाल के दु:खों को दूर करने वाला अर्थात् उनको सदा के लिए दु:खों से मुक्ति दिलाने वाला होता है। सम्यग्दर्शनादि भावगुणों की प्राप्ति के उपरान्त मोक्षप्राप्ति के अन्य साधन भी जैसे—सत्साधुसमागम, श्रीजिनवचन का श्रवण, सर्वविरतिमय शुद्ध जीवन का आचरण और परम्परागत अव्याबाध शाश्वत पद को प्राप्ति आदि श्री जिनेश्वरदेव को पूजा और भक्ति आदि से अवश्य प्राप्त होते है।

श्री जिनपूजा में दानादि धर्मों की आराधना :

श्री जिनेश्वरदेव की पूजा के समय पुण्यबन्ध रूप एवं कर्मक्षय रूप दोनों प्रकार के धर्मो की एक साथ आराधना होती है।

श्री जिनपूजा के समय अक्षतादि चढ़ाना **दान धर्म** है।

श्री जिनपूजा के समय विषय-विकार का त्याग करना **शील धर्म** है।

श्री जिनपूजा के समय अशन-पानादि का त्याग करना **तप धर्म** है।

पूजा के समय श्री जिनेश्वरदेव के गुणगान आदि करना भाव धर्म है।

श्री जिनपूजा से होने वाला कर्मक्षय

इसी प्रकार पूजन के समय—चैत्यवन्दनादि द्वारा गुणस्तुति आदि करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

प्रभुमूर्ति के दर्शनादि करने से दर्शनावरणीय कर्म का नाश होता है।

यतना और जीवदया की शुभ भावना से असातादि वेदनीय कर्म का क्षय होता है।

श्री अरिहन्त परमात्मा तथा श्री सिद्ध परमात्मा के गुणो के स्मरण से क्रमानुसार दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय होता है।

प्रभुपूजन के शुभ अध्यवसाय की तीव्रता से आयुष्य कर्म का क्षय होता है।

श्री जिनेश्वरदेव के नामादि लेने से नामकर्म का क्षय होता है।

श्री जिनेश्वरदेव का वन्दन पूजन आदि करने से नीच गोत्र कर्म का क्षय होता है तथा श्री जिनेश्वरदेव की पूजा मे शक्ति, समय तथा अन्य द्रव्य का सदुपयोग करने से वीर्यान्तरायादि कर्म का क्षय होता है।

इस प्रकार जिनपूजा मे पुण्यवव, देश से या सर्व से

कर्म-निर्जरा तथा परम्परा से शाश्वत सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति तक के सभी कार्य एक साथ सिद्ध होते है। श्री जिनपूजा जैसा आसान से आसान, बालक से लेकर वृद्ध तक सभी जिसे कर सकते है, ऐसा अनुपम लाभकारी अन्य कोई कार्य लोक-परलोक के मार्ग में दिखाई देना सम्भव नहीं है। उसके प्रति तनिक भी वक्रदृष्टि धारण करना अपने कल्याण के प्रति वक्र-दृष्टि धारण करने के समान है। अपने तथा औरों के कल्याण के अभिलाषी लोगों को श्री जिनपूजादि अनुष्ठान में स्वयं सम्मिलित होकर अन्य को सम्मिलित करना तथा अपने-पराये का पारमार्थिक कल्याण साधना, यही सच्ची उन्नति का उत्तम मार्ग है। □□□

जिनेश्वर परमात्मा की भक्ति
आशंसा-रहित होकर करनी चाहिए।
परमात्मा की भक्ति मे
मुक्ति देने की ताकत है।
जिस भक्ति से मुक्तिरूपी
ऐरावण हाथी खरीदा जा सके
उससे
दुनिया के क्षणिक/तुच्छ
सुख रूपी गर्दभ खरीदना
निरी मूर्खता ही है।

प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मूर्तिपूजा का स्वीकार

समस्त विश्व मूर्तिमान् पदार्थों का समूह है। जितना प्राचीन विश्व है उतनी ही प्राचीन मूर्ति, आकार तथा उनकी पूजा आदि हैं। जैन सिद्धान्त के अनुसार समस्त लोक षड्द्रव्यों से भरा हुआ है। इन छह द्रव्यों में पांच अमूर्त हैं व एक मूर्त। इन अमूर्त द्रव्यों का भी कोई आकार विशेष माना गया है। यावत् अलोकाकाश अथवा जहां केवल एक आकाश द्रव्य ही है उसको भी गोले जैसे आकार वाला माना गया है।

जैसे मूर्त द्रव्यों का आकार माना है वैसे ही अमूर्त द्रव्यों के ज्ञान को भी आकारयुक्त माना गया है। अमूर्त द्रव्यों की जानकारी भी मूर्त द्रव्यों द्वारा ही होती है। इस प्रकार आकार एवं मूर्ति को मानने का इतिहास किसी काल विशेष का नहीं पर विश्व के अस्तित्व तक से सदाकाल के लिए सर्जित है।

मूर्ति का विश्वव्यापक सिद्धान्त

मूर्ति, आकृति, प्रतिमा, प्रतिबिंब, आकार, प्लान, नक्शा,

चित्र, फोटो—ये सभी एक ही अर्थ के सूचक शब्द है। किसी-न-किसी प्रकार से इन आकारों को आदर दिये बिना किसी का काम नही चलता। एक बालक से लगाकर बड़े ज्ञानी तक सभी को अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम मूर्ति की ही आवश्यकता होती है। धार्मिक, व्यावहारिक अथवा वैज्ञानिक, किसी भी क्षेत्र में मूर्ति के आकार को माने बिना काम नहीं चलता। मूर्ति एवं आकार को मानने का सिद्धान्त विश्व-व्यापक है।

सुवर्ण और उसमें रहने वाले पीलेपन को तथा रत्न और उसमें बसी हुई कान्ति को जिस प्रकार कभी अलग नहीं किया जा सकता वैसे ही विश्व से उसके आकार की मूर्ति को भी पृथक् नहीं किया जा सकता। समस्त विश्व की प्रकृति ही इस तरह मूर्ति एवं आकार को धारण करने वाली है। ऐसी दशा में मूर्ति को नहीं मानना एक प्रकार से विश्व की प्रकृति का ही खून करने के बरावर है।

मुमुक्षुमात्र का अन्तिम ध्येय जन्म, जरा और मरण आदि दुःखों का अन्त कर अक्षय सुख प्राप्त करना है। इस महान् कार्य की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम आवश्यकता श्रेष्ठ साधनों को प्राप्त करने की है। चचल चित्त, उच्छृंखल इन्द्रियाँ, विषम विषयों एवं कटु कषायो पर विजय प्राप्त हो सके, ऐसा उत्तम साधन शुक्लध्यानावस्थित और शान्त मुद्रायुक्त श्री जिनेश्वर प्रभु की मनोहर प्रतिमा से बढ़कर दूसरा कोई भी नहीं है; भले ही वह मूर्ति फिर पत्थर, लकड़ी, धातु, मिट्टी, रेती या किसी भी पदार्थ की बनी हो।

ईश्वर की उपासना यदि धर्म का एक मुख्य अंग है तो

उसकी सिद्धि के लिए मूर्ति की आवश्यकता से कोई भी इन्कार नही कर सकता। किसी भी निराकार वस्तु की उपासना मूर्ति के अभाव मे असम्भव है, इसको सभी धर्मावलम्बी मानते हैं। अत ईश्वर के प्रति श्रद्धा, भक्ति तथा उसके अस्तित्व का विश्वास बनाये रखने के लिए मूर्तिपूजा की परम आवश्यकता है।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे, यह सम्भव है "ईश्वर की उपासना हेतु जड मूर्ति का आलम्बन लेने की अपेक्षा उनके स्वय के गुणो का आलम्बन लेना क्या बुरा है ?"

इसका समाधान है कि ईश्वर जिस प्रकार निराकार है उसी प्रकार ईश्वर के गुण भी निराकार हैं। ईश्वर तथा उसके गुणो का जब कोई आकार नही तो अल्पबुद्धि जीव उसकी उपासना किस प्रकार कर सकते है ? अल्पज्ञ जीवो को उपासना मे लीन करने के लिए साकार इद्रियगोचर तथा दृश्य पदार्थों की आवश्यकता रहेगी ही।

यदि कोई ऐसा कहे – हम ईश्वर अथवा ईश्वर के निराकार गुणो की अपने मनमदिर मे मानसिक कल्पना द्वारा उपासना कर लेंगे, ऐसी स्थिति मे पाषाणीय मदिर/मूर्ति की क्या आवश्यकता है ? पर ऐसा कहना भी अज्ञानता ही है। मनोमदिर मे निराकार ईश्वर की कल्पना भी साकार ही बनने वाली है, जैसे कि अष्ट महाप्रातिहार्य से विभूषित, केवलज्ञानादि अनत चतुष्टय से युक्त समवसरण मे विराजमान भगवान जिनेश्वर महाराज की धर्म-देशना समय की अवस्था। इस अवस्था की कल्पना निराकार नही, साकार है।

मंदिर और मूर्ति के मानने वाले भी इस कल्पना को ही मूर्त स्वरूप प्रदान करके उपासना करते है। कल्पना करके अथवा साक्षात् मूर्ति बनाकर उपासना करना, दोनों का ध्येय एक ही है। इतना अन्तर है कि काल्पनिक मनोमंदिर क्षणथायी है जब कि साक्षात् मंदिर तथा मूर्ति चिरस्थायी है। सर्वश्रेष्ठ तो यह है कि चिरस्थायी दृश्य मदिरों में जाकर भगवान की शान्त मुद्रायुक्त मूर्ति की भाव पूर्वक पूजा अर्चना करके आत्मकल्याण करना, पर क्षणविध्वसी काल्पनिक और अदृश्य मूर्ति मात्र से संतोष नही मान लेना क्योंकि ऐसे सतोष में स्पष्ट रूप से भक्ति की कमी रहती है।

मूर्ति का श्रेष्ठ आलम्बन:

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि जितनी प्राचीनता संसार के इतिहास की है, उतनी ही प्राचीनता मूर्तिपूजा की है। इसीलिये विश्व के इतिहास के साथ ही संसारी जीवों के कल्याणार्थ परम आवश्यक मूर्तिपूजा का इतिहास भी प्राप्त होता है। जीवों के कल्याण और मूर्तिपूजा, दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। परम पुरुषों की मूर्तियों के शुभ आलम्बन से संसारी आत्माओं की पापवासना मद पड़ती है। विषय-कषाय का वेग घटता है। आरम्भ-परिग्रह के त्याग की भावना का जन्म होता है, सन्मार्ग की ओर अग्रसरता स्थायी बनती है और सदा उच्च गुणों का आदर्श मिलता रहता है।

मूर्तिपूजा का विरोध उत्पन्न होने का कारण :

मूर्तिपूजा-प्राचीन तथा कल्याणकारी होने पर भी उसका विरोध कब से, किसके द्वारा और किस कारण से हुआ, इसका

इतिहास भी जानना आवश्यक है। विश्वस्त तथ्यो से यह सिद्ध होता है कि विक्रम की ७ वी शताब्दी पूर्व समस्त ससार मूर्तिपूजा का उपासक था। सर्वप्रथम लगभग १३०० से १४०० वर्ष पूर्व मूर्तिपूजा के विरुद्ध आवाज पैगम्बर मुहम्मद ने अरबिस्तान मे उठाई थी क्योकि उस देश मे मूर्तिपूजा के नाम पर अत्याचार बहुत बढ गये थे। सिर के बाल बढ जाने से सिर को ही काट डालने की क्रिया जितनी अव्यावहारिक है उतना ही अव्यावहारिक था अत्याचार का विरोध करने के बजाय मूर्तिपूजा का विरोध करना। पैगम्बर मुहम्मद ने यह विरोध किसी भी प्रमाण के आधार पर नही पर तलवार के बल पर किया।

केवल आर्य प्रजा मे ही नही पर पाश्चात्य देशो मे भी मूर्तिपूजा का बहुत प्रचार था, ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध हैं। आस्ट्रेलिया मे भगवान महावीर की मूर्ति, अमेरिका मे ताम्रमय सिद्धचक्र का गट्टा, मगोलिया मे अनेक भग्न मूर्तियो के अवशेष तथा मक्का-मदीना मे जैन मन्दिर (जो हाल ही मे वहाँ से बदल दिया गया है) आदि मूर्तिपूजा के प्रमाण हैं।

व्यक्तिगत रूप मे कोई मूर्तिपूजा को नही माने, यह अलग बात है परन्तु देशाटन करने वालो की जानकारी से यह बात छिपी हुई नही है कि आज भी जगत् मे ऐसा प्रदेश खोजने पर भी नहीं मिल सकता जहाँ मूर्तिपूजा का प्रचार न हो।

मुस्लिम मत की उत्पत्ति के बाद मुसलमानो ने भारतवर्ष पर कई आक्रमण किये और धर्मान्धता के कारण इस देश के आदर्श मन्दिर-मूर्तियो का तथा शिल्प-कलाओ को नष्ट-भ्रष्ट किया। फिर भी १५ वी शताब्दी तक आर्य प्रजा पर मुस्लिम सस्कृति का थोडा भी प्रभाव नही पडा।

विक्रम की १३ वीं शताब्दी में दिल्ली पर मुस्लिम सत्ता का शासन हुआ। सत्ता के मद में आकर वे अनेक मन्दिरों एवं अज्ञानी लोगों को हिन्दू धर्म से भ्रष्ट करने लगे फिर भी उन्हें पूर्ण सफलता नही मिली। थोड़े वहुत जो विधर्मी बने वे भी अधिकांश स्वार्थी और धर्म से अनभिज्ञ लोग थे। ऐसी विकट स्थिति में भी भारतीय धर्मवीरों पर अनार्य संस्कृति का कुछ भी प्रभाव नही पड़ा।

विक्रम की १४ वीं सदी में दिल्ली, मालवा और गुजरात की भूमि पर मुस्लिमों की सत्ता का आधिपत्य हुआ और उन्होंने वहाँ की शिल्पकला और मन्दिरो का नाश किया, विधर्मी नही वनने वालों की सम्पत्ति को लूटा तथा उन्हें प्राण-दण्ड दिया। तब तक भी धर्मवीरों पर अनार्य संस्कृति का जरा भी प्रभाव नही पड़ा और इसके विपरीत, प्रतिस्पर्धा के कारण धर्म एवं मूर्तिपूजा का विश्वास और भक्तिभाव बढ़ता ही गया।

शिलालेखों से यह ज्ञात होता है कि ऐसी विकट परिस्थिति के समय में भी पुराने मन्दिरों के नाश की अपेक्षा नये मन्दिर अधिक संख्या में बने। उदाहरणस्वरूप वि. सं. १३६९ में मुसलमानों ने शत्रुंजय के सभी मन्दिरों का नाश किया और १३७१ में श्रेष्ठी समरसिह ने करोड़ों का द्रव्य खर्च करके पुनः शत्रुंजय पर स्वर्गविमान समान मन्दिरों का निर्माण करवा लिया।

विक्रम की १६ वीं सदी भारतवर्ष के लिए महादुःख एवं भयंकर कलंक रूप साबित हुई। अनार्य संस्कृति का दोषपूर्ण प्रभाव अनेक व्यक्तियों पर पड़ चुका था तथा अनेक अज्ञानी

व्यक्तियो ने अनार्य सस्कृति का अन्धानुकरण कर विना कुछ सोचे समझे आर्य मन्दिर एव मूर्तियो की ओर क्रूर दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया था।

श्वेताम्बर जैनो मे लोकाशा, दिगम्बर जैनो मे तारणस्वामी, सिक्खो मे गुरु नानक, जुलाहो मे कबीर, वैष्णवो मे रामचरण तथा अग्रेजो मे मार्टिन लूथर आदि लोगो ने विना सोचे-समझे सस्कृति के आधार-स्तम्भ रूप मन्दिर और मूर्तियो के विरुद्ध आवाज उठाना शुरू कर दिया था। 'ईश्वर की उपासना के लिये इन जड पदार्थों की कोई आवश्यकता नही है,' ऐसा कहकर मूर्तियो द्वारा अपने इष्ट देवो की उपासना करने वालो को उन्होंने आत्मकल्याण के मार्ग से हटा दिया था।

श्वेताम्बर जैनो का लोकाशा के साथ सम्बन्ध है। लोकाशा के जीवन के विषय मे भिन्न-भिन्न लेखको के अलग-अलग उल्लेख मिलते हैं परन्तु लोकाशा का जैन साधु के द्वारा अपमान हुआ, इस विषय मे सभी एकमत है। एक ओर उसका अपमान तथा दूसरी ओर मुसलमानो का सहयोग, लोकाशा को कर्तव्यच्युत करने वाला सिद्ध हुआ।

वि स १५४४ के आसपास हुए उपाध्याय श्री कमलसयमी 'सिद्धान्तचोपाई' मे लिखते हैं कि फिरोजखान नामका बादशाह मन्दिरो और पोषधशालाओ को ध्वस कर जिनमत को कष्ट पहुँचाता था। दुषमकाल के प्रभाव से बुखार के साथ सिरदर्द की तरह, लोकाशा को उसका सहयोग मिल गया।

आवेश मे अन्धा इन्सान क्या-क्या कुकर्म नही करता! इस विषय मे जमालि और गोशाला के दृष्टान्त प्रसिद्ध है। क्रोधावेश

में आया लोंकाशा मुसलमान सैयदों के वचनों पर विश्वास कर अपने धर्म से च्युत हुआ। इससे पूर्व लोंकाशा त्रिकाल श्रीजिन-पूजा करता था, ऐसा उल्लेख मिलता है। पर साधुओं द्वारा अपमानित होने के बाद गांव में भी इसी भांति इन सैयदों का संयोग मिल गया तथा सैयदों ने उससे मन्दिर और मूर्ति छुड़वा दी। तब से वह पूजनकार्य को निरर्थक मानने लगा। सैयदों ने उसको कहा—"ईश्वर तो मुक्ति में है तथा संसार से दूर है तो इसके लिये मूर्तियों की, मन्दिरों की अथवा स्थान-निर्माण की क्या जरूरत है?" लोंकाशा को यह बात पूर्ण सत्य लगी।

मिथ्यात्व के उदय से ऐसी भ्रान्त बातें भी कई बार हृदय में इस प्रकार घर कर जाती है कि उसके सम्मुख फिर अनेक युक्तियाँ, आगम अथवा इतिहास आदि के प्रमाण भी रखने में आवे तो भी वे निकल नहीं पाती और ऐसी भावना अनेक नये निकलने वाले पंथों और मतों की तरह लोंकाशा ने भी अपना मत खड़ा कर दिया।

लोंकाशा ने केवल मूर्तिपूजा का ही विरोध नहीं किया पर जैन आगम, जैन संस्कृति, सामायिक, प्रतिक्रमण, दान, देवपूजा तथा प्रत्याख्यान आदि का भी विरोध किया। अन्तिम अवस्था में इसे अपने दुष्कृत्यो का पश्चाताप भी हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि उसने सामायिक-पौषध-प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को आदरसूचक स्थान दिया और बाद मे दान देने को भी छूट दी। इसके पश्चात् मेघजी ऋषि आदि ने इस मत का सदतर त्याग कर पुनः जैनदीक्षा को स्वीकार किया है तथा वह मूर्तिपूजा के समर्थक एव प्रचारक बने। लोंकागच्छीय आचार्यो ने मन्दिरो तथा

मूर्तियो की प्रतिष्ठा करवाई तथा अपने - अपने उपाश्रय मे भी प्रतिमाओ की स्थापना कर मूर्तियो की उपासना की है।

लोकागच्छ का एक भी उपाश्रय ऐसा नही था जहाँ श्री वीतराग प्रभु की मूर्ति न हो। परन्तु विक्रम की १८ वी सदी मे यति धर्मसिंह और लवजी ऋषि-दोनो ने लोकागच्छ से अलग होकर पुन मूर्ति के विरुद्ध विद्रोह खडा किया। लोकागच्छ के श्रीपूज्यो ने दोनो को गच्छ मे बाहर कर दिया पर उन दोनो के द्वारा प्रचारित मत चल पडा। इस नये मत को "ढूँढक मत" का उपनाम मिला। इस सम्प्रदाय का दूसरा नाम "साधुमार्गी" अथवा "स्थानकवासी" पडा। इन ढूंढियो और लोकाशा के अनुयायियो मे क्रिया और श्रद्धा मे दिन-रात जैसा अन्तर है। स्थानकमार्गी यानी ढूंढक लवजी ऋषि के अनुयायी हैं।

स्थानकवासी समाज की उत्पत्ति का यह संक्षिप्त इतिहास है। आज उनमे मे भी बहुतो ने मूर्तिपूजा की आवश्यकता और हितकारिता को स्वीकार किया है।

इस प्रकार मूर्तिपूजा का अस्तित्व सनातन काल का है। सभी सुविहित आचार्यो ने इस विधान को आदर देकर जैनसमाज पर बडा उपकार किया है।

मूर्तिपूजा के विरोधी भी मूर्तिपूजा को मानते हैं—

मूर्तिपूजा का सर्वप्रथम विरोधी मुहम्मद है परन्तु उसके अनुयायी भी अपनी मस्जिदो मे पीरो की आकृतियाँ बनाकर पुष्प-धूपादि से पूजते है, ताजिया बनाकर उसके आगे रोना-पीटना

करते हैं तथा यात्रा के लिए मक्का-मदीना जाकर वहाँ एक काले पत्थर का चुम्बन करते हैं तथा ऐसा मानते हैं कि इससे पाप नष्ट होते हैं।

मूर्तिपूजा नही मानने वाले ईसाई सूली पर लटकती ईसा-मसीह की मूर्ति और क्रॉस स्थापित कर अपने चर्च में उसे पूज्यभाव से देखते हैं, द्रव्यभाव से पूजा करते हैं तथा पुष्पहार चढ़ाते हैं।

कबीर, नानक, रामचरण आदि मूर्ति विरोधियों के अनुयायी अपने-अपने पूज्य पुरुषों की समाधियाँ बनाकर पूजते हैं। समाधियों के दर्शनार्थ भक्त लोग दूर-दूर से आते हैं तथा पुष्पादि पदार्थ चढ़ा कर अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं।

स्थानकवासी वर्ग अपने पूज्यों की समाधि, पादुका, चित्र आदि बनाकर उपासना करते है, दर्शन हेतु दूर-दूर से आते हैं तथा दर्शन कर अपने को कृतकृत्य मानते हैं।

कोई भी पंथ, मत, सम्प्रदाय, जाति, धर्म तथा व्यक्ति मूर्तिपूजा से वंचित नहीं है। मूर्तिपूजकों ने संसार का जितना उपकार किया है, विरोधियों ने उतना ही अपकार किया है। मूर्ति आत्मकल्याणकारक होकर संसार के सभी जीवों की सच्ची उन्नति का साधन है। इसका विरोध आत्म-अहित का तथा विश्व भर के अधःपतन का प्रमुख कारण है।



8

तीर्थंकरों का परोपकारमय जीवन

नामाकृतिद्रव्यभावैः, पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मि - न्नर्हतः समुपास्महे ।। १ ।।

इस सुन्दर पद्य मे परम उपकारी, कलिकालसर्वज्ञ, आचार्य भगवान् श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा फरमाते हैं कि—

"सभी कालो मे तथा सभी क्षेत्रो मे नाम, आकृति, द्रव्य और भाव—इन चारो स्वरूपो द्वारा तीनो जगत् के लोगो को पवित्र करने वाले श्री अरिहन्तो की हम उपासना करते हैं।"

उपर्युक्त पद्य से यह भाव निकलता है कि अरिहन्त परमात्मा की मूर्तियां और उनकी पूजा आजकल की नही परन्तु सदा की हैं। श्री अरिहन्तों के चार निक्षेप उपास्य हैं। इन चार मे से एक भी निक्षेप की उपेक्षा सम्यक्त्व की प्राप्ति मे बाधक तथा प्राप्त सम्यक्त्व का नाश करने वाली है।

कोई भी काल ऐसा नही कि जिसमें मूर्तिपूजा का अस्तित्व न हो तथा कोई भी क्षेत्र ऐसा नही कि जिसमें श्री अरिहन्त देवों की मूर्तियाँ उनके उपासकों को पवित्र न करती हों। मूर्तिपूजा आत्मकल्याण का प्रारम्भिक अंग है। अधिकार एवं योग्यता के अनुसार साधुओं की भाँति श्रावकों के लिए भी श्री अरिहन्त परमात्माओं की भावपूजा तथा द्रव्यपूजा निरन्तर आवश्यक है। इसका पालन नही करने वाले साधु तथा श्रावक को शास्त्रकारों ने प्रायश्चित्त का भागीदार वताया है।

जहाँ तीर्थ है वहाँ पूजा होती है :

भरत और ऐरवत क्षेत्र में प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में एक-एक चौवीसी होती है। हर चौवीसी में चौवीस-चौवीस तीर्थंकर होते है। ऐसी अनन्त चौवीसी अतीत में हो गई और भविष्य में होंगी। महाविदेह क्षेत्र में तो श्री तीर्थंकरों का विरह ही नहीं है। अतः जव-जव और जहाँ-जहाँ उन परमोपकारी तीर्थपतियों का तारक तीर्थ प्रवर्तमान होता है तव-तब उन-उन स्थानों पर श्री जिनमन्दिरों और श्री जिन मूर्तियों तथा उनकी उपासना का अस्तित्व स्थायी रूप से होता है। इसका कारण यह है कि श्री जिनेश्वरदेवों के पवित्र मार्ग में श्री जिनेश्वर देवों की पूजा को सम्यक्त्वशुद्धि का एक परम अंग और आत्मोन्नति का एक अद्वितीय साधन माना गया है।

श्री तीर्थंकर देवों का जगत् पर असीम उपकार है, समस्त विश्व का हित करने की सर्वोत्तम भावना में से श्री तीर्थंकर पद का जन्म हुआ है। इसीलिए उन्होंने अनेक भवों से शुभ प्रयत्न कर तीसरे भव में जिन नामकर्म की निकाचना की होती है। अन्तिम

भव मे वे विश्ववन्द्य पुण्य कर्म का उपयोग करते समय विश्व के समस्त प्राणियो के लिए हितकारी धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं।

इस तीर्थ के प्रभाव से समस्त धर्म-कर्म की सुव्यवस्था विश्व मे चालू रहती है। ससार-सागर से भव्य आत्माओ को तारने के लिए ये तीर्थ समर्थ होते हैं। महासत्त्वशाली प्राज्ञ पुरुषो का यह आश्रयस्थान होता है। यह तीर्थ अविसवादी और अचिन्त्य शक्तियुक्त है और उसका जो कोई आश्रय लेता है उसे वह भयानक भवसागर से तारने मे समर्थ है। द्वादशागी, उसका आधार चतुर्विध श्रीसघ और उसके आद्य रचयिता श्री गणधरदेव, ये तीनो तीर्थ कहलाते हैं। इन तीर्थो के आद्य प्रकाशक एव आद्य स्थापक श्री तीर्थङ्करदेव तथा उनके जीवन की विशिष्टता है।

वास्तव मे तो श्री तीर्थङ्कर देवो का सर्वोच्च जीवन ही जैनधर्म की महान् सम्पत्ति है। जैनधर्म की शाश्वतता की यदि कोई मजबूत जड है, तो वह भी यही है। कभी सर्वनाश जैसी स्थिति भी आ जाय तो भी श्री तीर्थंकरदेवो के सर्वोच्च जीवन का आदर्श, जब तक जगत् मे विद्यमान है, तब तक पुन धर्म-जागृति आते देर नही लगती। जैनधर्म की सर्वोपरिता और दृढमूलता होने का मुख्य कारण श्री तीर्थंकरदेवो का सर्वोच्च जीवन ही है। इसी कारण सभी जैन अपनी सभी प्रवृत्तियो मे श्री तीर्थंकरदेवो के जीवन को ही ऊँचा स्थान देते है।

श्री तीर्थंकरो की पूज्यता उनकी विद्वत्ता, राज्यसत्ता अथवा रूप-रगादि के कारण नही है परन्तु उनके तीर्थंकरपने के कारण है और इसलिए जैन-शास्त्रकारो ने श्री तीर्थंकरो की लग्न, राज्य व युद्धलीला अथवा क्रीडा आदि की घटनाओ को उपादेय के रूप

में आगे नहीं रक्खा परन्तु च्यवन, जन्म, दीक्षा, कैवल्य तथा मोक्ष अवस्थाओं को आगे रखकर ही उनकी उपासना की है।

जगत् में एक से बढ़कर एक दूसरा मनुष्य मिल ही जाता है। कोई रूप में, कोई गुण में, कोई जाति में अथवा कुल में, कोई बुद्धि अथवा शास्त्र में, कोई कला अथवा कौशल में, कोई ऋद्धि अथवा समृद्धि में तथा कोई लाभ अथवा ख्याति में—इन सबके मद आदि को उतारने वाला श्री तीर्थंकर देवों का जीवन ही है। क्रोध, रोष, ईर्ष्या अथवा सहिष्णुता, माया अथवा दम्भ, अनीति अथवा अनाचारादि दोषों को रोकने की इस जगत् में सत्य प्रेरणा यदि किसी भी स्थान से प्राप्त हो सकती है तो वह भी श्री तीर्थंकरदेवों के आदर्श जीवन से ही प्राप्त हो सकती है। श्री तीर्थंकर देवों का आदर्श जीवन दूसरों में रहने वाले सभी दोषों और विकारों को प्रकट मे लाता है तथा योग्य आत्माओं में उन दोषों को बढने से रोकता है तथा उनका नाश भी कर देता है।

इस जगत् में जो कोई अच्छाई, उज्ज्वलता अथवा पवित्रता आदि दिखाई देती है, वह सब प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से तीर्थंकरदेवों के अति उज्ज्वल तथा पवित्र जीवन का ही प्रभाव है। उन उद्धारकों के जीवन की भव्यता असंख्य आत्माओं को अपने विकासस्थान से आगे बढ़ने में अनायास रूप से एक सबल निमित्त रूप सिद्ध हुए बिना नही रहती।

सभी जीवों के विकास में समान रूप से उपकारक श्री तीर्थंकरदेवों का उपकार स्मृतिपट पर ताजा बना रहे तथा उसका विस्मरण न हो, इस कारण उनकी उपस्थिति एवं अनुपस्थिति में उनकी प्रतिमा तथा मन्दिरों द्वारा भक्ति करने की प्रथा विवेकी वर्ग में सर्वदा होती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

ससार पर किये हुए उनके उपकार बुद्धिशाली आत्माओ को सहज रूप से वैसा करने की प्रेरणा देते हैं। इस उपकार को समझने वाले उनकी प्रतिमा के दर्शन किये विना अन्न या जल भी नही लेते। पूरे दिन यदि दर्शन नही हो तो उपवास करते है। हमेशा त्रिकाल-दर्शन तथा सात वार चैत्यवन्दन अवश्य करने की प्रतिज्ञा धारण करते ह। श्री तीर्थंकरो के प्रति इस महान् पूज्यभावना के परिणामस्वरूप स्थान-स्थान पर वडे-वडे मन्दिर स्थापित होते ह और उनमे वहुत सी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित होती है। वडे शहर, कल्याणक-स्थलो तथा अन्य महत्त्वपूर्ण व सामान्य स्थलो मे, अनेक मन्दिर एव प्रतिमाएँ अस्तित्व मे आती हैं। विवेकी आत्माएँ सदा ऐसे सुन्दर अवसर की हार्दिक कामना करती हैं कि सारी पृथ्वी श्री जिनमन्दिरो से सुसज्जित हो।

आधुनिक सस्कृति के पुजारी को दुनिया मे हर स्थान और हर गाँव मे हाई स्कूल, हॉस्पिटल अथवा पोस्ट ऑफिस आदि स्थापित करने की महत्त्वाकाक्षा होती है। इससे भी अनेक गुणी महत्त्वाकाक्षा श्री तीर्थंकरदेवो के सर्वोच्च गुणो को पहचानने वाली आत्माओ के दिल मे मन्दिरो एव मूर्तियो की सर्वत्र प्रतिष्ठा करने की होती है।

तीर्थंकरो के दर्शन से कोई वञ्चित न रह जाय, इस उद्देश्य से वडे-वडे तीर्थ बनवाये जाते हैं, वडे-वडे यात्रागमन, समारम्भ, चैत्य, रथोत्सव, महापूजा और ऐसी अन्य कई उत्साहजनक प्रवृत्तियाँ करने मे आती है और ऐसा करके अपना तथा प्रजा का तीर्थंकरो की तरफ के सम्मान का भाव जागृत करने तथा निरन्तर चालू रखने के प्रयत्न किये जाते ह।

श्री तीर्थंकरो के गुणो के जानने वाले ऐसा किये विना रह

ही नही सकते। कैसी भी प्रवृत्ति में पड़ा हुआ व्यक्ति भी इन वाद्ययंत्रों की आवाज से सिर ऊँचा उठाये विना रह नहीं सकता। जाने-अनजाने भी आत्मिक उन्नति के योग्य वीजारोपण उसकी आत्मा में पड़ जाते है। वे वीज पत्तों के रूप में वदल कर भविष्य में वड़ा रूप धारण कर लेते है।

श्री जिनमन्दिर की प्रतिष्ठित मूर्तियाँ तथा उनकी पूजा के महोत्सव आत्मोन्नति एवं आत्मविकास के अनन्य साधन है, धार्मिक जीवन के लक्ष्यविदु है तथा त्रैकालिक उत्तमोत्तम कर्त्तव्य है। कारण कि छोटी-वड़ी धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में वही से उत्पन्न होती है। श्री जिनमन्दिरों की महिमा का वर्णन करते हुए एक विद्वान् ने ठीक ही कहा है -"श्री जिनमन्दिर विकासमार्ग से विमुख प्राणियों को इस मार्ग पर आगे वढ़ने के लिए अगम्य उपदेश देने वाले मूल्यवान ग्रन्थ है। पथभ्रष्ट भवाटवी के पथिकों को राह वताने के लिए प्रकाशस्तम्भ है, आधि, व्याधि व उपाधि के त्रिविध ताप से जली हुई आत्माओं को विश्राम के लिए आश्रयस्थान है। कर्म तथा मोह के आक्रमण से व्यथित हृदयो को आराम देने के लिए संरोहिणी औषधि हैं। आपत्ति रूपी पहाड़ी-पर्वतों में घटादार छायादार वृक्ष है। दुःख रूपी जलते दावानल मे शीतल हिमकूट है। संसार रूपी खारे सागर में मीठे झरने है। सन्तों के जीवन-प्राण है। दुर्जनों के लिए अमोघ शासन है। अतीत की पवित्र स्मृति है। वर्तमान के आत्मिक विलास भवन है। भविष्य का भोजन है। स्वर्ग की सीढ़ी है। मोक्ष के स्तम्भ हैं। नरक-मार्ग में दुर्गम पहाड़ हैं तथा तिर्यंचगति के द्वारों के विरुद्ध शक्तिशाली अर्गला है।"



9

प्रतिमा-पूजन की शाश्वतता :

महान् उपकारी विश्ववन्द्य श्री वीतरागदेव की निर्विकार, शान्त, ध्यानावस्थित मुद्रा जगत्पूज्य है, सभी दु खो का नाश करने वाली है तथा सभी सुखो की प्राप्ति का परम साधन है। फिर भी इस जगत् मे उसी का विरोध करने वाला, उसके आगे जैसे-तैसे बाधा खडी करने वाला और पूजा के मूल को उखाडने मे ही अपने जन्म की सार्थकता समझने वाला वर्ग भी है, इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है।

किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है कि—इस जगत् मे ज्ञानी जितना उपकार कर सकता है उसकी अपेक्षा अज्ञानी अधिक अपकार कर सकता है। अज्ञान एक भयकर वस्तु है। अज्ञान के कारण इस जगत् मे जितने अनर्थ होते हैं उतने हिंसा आदि क्रूर पापकर्मो से भी नही हो सकते। सारे जगत् पर अज्ञान का साम्राज्य छाया हुआ है। इसकी छाया तले रहने वाली आत्मा जिन प्रतिमा और उसकी पूजा का विरोध करे, तो इसमे कोई आश्चर्य नही है।

जगत् मे ज्ञान की अपेक्षा अज्ञान अधिक है, सुयुक्तियो की तुलना मे कुयुक्तियो की मात्रा अधिक है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि

ग्रौर निराग्रही ग्रात्माग्रों से मिथ्यादृष्टि एवं दुराग्रही ग्रात्माएँ ग्रधिक है, यह बात श्री जिनप्रतिमा ग्रौर उसकी पूजा के विरोधी प्रचारकार्य से प्रत्यक्ष प्रकट होती है। श्री जिनप्रतिमा उसकी पूजा करने वालों को प्रत्यक्ष रूप से ग्रनेक लाभ देती रही है तथा सर्वसिद्धान्तवेदी सज्जन पुरुषों ने ग्रपने ग्रन्त:करण से उसका समर्थन किया है फिर भी ग्रज्ञान कुवासनाग्रस्त तथा ग्राग्रह के कारण मतान्ध बने लोग उसका खण्डन करने में कुछ भी बाकी नही रखते।

प्रतिमा ग्रौर उसकी पूजा के निषेधकों के मुख्य तर्क दो है। एक तो यह कि प्रतिमा जड़ है तथा दूसरी यह कि पूजा में हिंसा निहित है। इन दोनो तर्कों का सुयुक्तिपूर्ण एवं हृदयंगम जवाब इस पुस्तक में दी गई प्रश्नोत्तरी में मिल जायगा।

ग्रागम मानने वालों को पंचांगी भी मान्य करनी चाहिए :

प्रतिमा को नही मानने वाला 'स्थानकवासी' वर्ग भी किसी रूप में ग्रागम में तो विश्वास करता ही है। प्रतिमा वीतराग के रूपी ग्राकार की स्थापना है। परन्तु ग्रागम तो श्री वीतराग के ग्ररूपी ज्ञान की ग्रक्षरश: स्थापना है। श्री वीतराग के साक्षात् ग्राकार की स्थापना को नही मानने की हिम्मत करने वाले भी श्री वीतराग के ग्ररूपी ज्ञान के ग्रक्षराकार-स्थापनास्वरूप ग्रागम को नही मानने का साहस नहीं करते। यह बात भी स्थापना के ग्रप्रतिहत प्रभाव को सूचित करती है।

स्थानकवासी वर्ग पैतालीस ग्रागमों में से स्वयं को इष्ट बत्तीस ग्रागम ग्रौर वे भी मूल मात्र ही मानता है। इन बत्तीस ग्रागमों में भी स्थापनानिक्षेप की कितनी प्रबल व्यापकता रही हुई है, यह समझाने के लिए परोपकारी शास्त्रकार महर्षियों ने कम

प्रयास नही किया है। श्री जिनेश्वरदेव का धर्म श्री जिनेश्वरदेव की आज्ञा के पालन मे है, न कि कल्पित दया के कल्पित प्रकार के पालन मे।

जहाँ दया, वहाँ जिनधर्म, ऐसी व्याख्या यदि निरपेक्ष है तो वह अधूरी और असत्य है। जहाँ श्री जिन की आज्ञा वहाँ श्री जिन धर्म, यह सम्पूर्ण और सच्ची व्याख्या है। श्री वीतराग की आज्ञा आगमो मे निबद्ध है और आगमो का अर्थ पचागीयुक्त शास्त्रो मे गूँथा हुआ है। सूत्र, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीकाये पचागी हैं। इनमे से एक भी अग को नही मानने वाले वस्तुत आगमो को ही अप्रमाण्य ठहराने वाले हैं। सूत्र के रचयिता श्री गणधर भगवन्त है तथा अर्थ बताने वाले श्री अरिहन्तदेव ह। श्री गणधर भगवन्त के वचनो को मान्य रखना और श्री अरिहन्त भगवन्त के कथन की उपेक्षा करना बुद्धिमत्ता का लक्षण नही है।

सूत्र केवल सूचना रूप होते हैं। सूत्रो द्वारा दी गई सूचना जिसमे विस्तार से कही गई है, उन्ही को निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि आदि माना गया है। उनके रचनाकार श्रुतकेवली, पूर्वधर तथा अन्य बहुश्रुत भवभीरु महर्षि है। वे असाधारण गीतार्थ, विद्वान् और पण्डित हैं। उनके वचनो को मानना बुद्धि की सार्थकता है।

प्रतिमा की वन्दनीयता के प्रमाण ·

प्रतिमा-निषेधको के माने हुए बत्तीस सूत्र अथवा आगमो के नाम निम्नानुसार है —

ग्यारह अग, बारह उपाग, नदी, अनुयोग, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, वृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध।

इन बत्तीस सूत्रों में भी स्थान-स्थान पर स्थापना-निक्षेप की सत्यता एवं वन्दनीयता बताई हुई है। उसके थोड़े से नमूने नीचे दिये जाते है—

१. **श्री अनुयोगद्वार सूत्र** मे प्रत्येक पदार्थ के कम से कम 'नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव' ये चार निक्षेप करने की आज्ञा दी गई है।

२. **श्री ठाणांग सूत्र** में चार तथा दस सत्यों का निरूपण किया गया है तथा इसमें स्थापना को भी सत्यरूप मे स्वीकार किया गया है।

३. **श्री आवश्यक सूत्र** में चारों निक्षेपों से श्री अरिहंत का ध्यान करने का आदेश है। जिनमें चतुर्विशतिस्तव नाम और द्रव्य निक्षेप से तथा चैत्यस्तव द्वारा स्थापना निक्षेप से श्री जिनेश्वर देव की आराधना बताई गई है।

४. **श्री भगवती सूत्र** के प्रारम्भ में ज्ञान की स्थापना के रूप में श्री गणधर देवों ने श्री बंभी लिपि को नमस्कार किया है।

५. **श्री दशवैकालिक सूत्र** मे स्त्री की प्रतिकृति भी देखने की साधु को मनाई कर स्थापना के शुभाशुभ प्रभाव को स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है।

६. **श्री भगवती** सूत्र के बीसवे शतक के नवे उद्देश में लब्धिधर चारणमुनियो द्वारा शाश्वत और अशाश्वत जिन-प्रतिमाओं की, की हुई वन्दना का स्पष्ट उल्लेख है।

७. **श्री समवायांग सूत्र** में चारणमुनि श्री नन्दीश्वरद्वीप में

चैत्यवन्दन के लिए जाते है तब सत्रह हजार योजन ऊर्ध्व गति करते हैं, इसका स्पष्ट वर्णन है।

प्रतिमा की पूजनीयता के प्रमाण :

श्री जिनप्रतिमा जिस प्रकार वन्दनीय है उसी प्रकार पूजनीय भी है। इसके लिए इन्ही बत्तीस आगमो मे निम्न प्रकार के प्रमाण मौजूद हैं —

श्री रायपसेणी सूत्र में श्री सूर्याभदेव द्वारा की हुई पूजा का विस्तृत वर्णन है। श्री सूर्याभ देवता परम सम्यग्दृष्टि, परित्तससारी, सुलभबोधि और परम आराधक है, ऐसा भगवान् ने स्वमुख से फरमाया है।

श्री ज्ञाता सूत्र मे भवनपति निकाय के देवियो की जिन-भक्ति की प्रशसा की गई है।

श्री भगवती सूत्र मे प्रभु के सामने इन्द्रादि द्वारा किये हुए नाटक की प्रशसा है।

श्री जीवाभिगम सूत्र मे श्री विजयदेव द्वारा किये गये नाटक की प्रशसा है।

श्री ठाणाग सूत्र के चौथे स्थान मे श्री नन्दीश्वर द्वीप पर कई देवी-देवताओं की पूजा भक्ति का वर्णन है।

श्री जबूद्वीप प्रज्ञप्ति मे श्री जिनेश्वरदेव की दाढें और अस्थि, दतादि प्रमुख अवयव, देवता भक्तिपूर्वक अपने स्थान पर ले जाकर पूजते हैं तथा अग्निदाह के स्थान पर प्रमुख स्तूप की रचना करते है, इसका स्पष्ट वर्णन है।

श्री भगवती सूत्र के दसवें शतक के छठे उद्देश में इन्द्र की सुधर्मसभा में श्री वीतराग की दाढ़ों की आशातना के वर्जन का वर्णन है।

श्री दशवैकालिक सूत्र में देवताओं को मनुष्यों को अपेक्षा अधिक विवेकी बतलाया है तथा उन देवताओं के जीव पूर्वभव में तपस्या और श्रुत की आराधना करके देवलोक में उत्पन्न हुए है; अतः उनके द्वारा कृत कार्य अत्यन्त माननीय हैं, ऐसा प्रतिपादन किया हुआ है।

श्रावकों के भी प्रतिमा की पूजनीयता के प्रमाण :

बत्तीस आगमों में जैसे देवताओं द्वारा श्री जिनप्रतिमा की पूजा करने के उल्लेख है वैसे इन्ही बत्तीस आगमों में मनुष्यों द्वारा की हुई प्रतिमापूजन के भी अनेक उल्लेख मिलते है, जिनमें से कई निम्नानुसार है—

श्री उववाई सूत्र में बताया गया है कि अंबड़ परिव्राजक और उसके ७०० शिष्यों ने श्री वीतराग को नमन करने की तथा उनकी प्रतिमा को छोड़कर अन्य किसी को नमन नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी।

श्री उपासक दशांग सूत्र में बताया गया है कि आनन्द-श्रावक ने अन्यतीर्थी अथवा अन्य देवीदेवता तथा उनकी प्रतिमाओ को वन्दन-नमस्कार आदि नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी।

श्री भगवती सूत्र में असुरकुमारदेव सौधर्मदेवलोक तक जाते है। उस समय श्री अरिहन्त, उनके चैत्य तथा अणगार

मुनि, इस प्रकार तीनो का शरण स्वीकार करते हैं, ऐसा वर्णन किया हुआ है।

श्री समवायाग सूत्र मे आनन्दादि दस श्रावको के चैत्य आदि का वर्णन किया हुआ है।

श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र मे श्री जिनप्रतिमा की वैयावच्च आदि करने की आज्ञा गई है। (यहाँ प्रतिमा के वैयावच्च से तात्पर्य है इसके अवर्णवाद, उपेक्षा, विराधना आदि को टालना।)

श्री कल्पसूत्र मे श्री सिद्धार्थ राजा के अनेक याग अर्थात् श्री जिनप्रतिमा की पूजा करने के उल्लेख है। (श्री सिद्धार्थ राजा परम सम्यग्दृष्टि श्रावक थे। पशुहिंसा का यज्ञ उनके लिए सभव नही है। श्री भगवती आदि सिद्धान्तो मे जहाँ राजा श्रेणिक और महाबलकुमार आदि के अधिकार आते है वहाँ **"ण्हाया कय बलिकम्मा"** ऐसे जो उल्लेख किये हुए हैं इस बलिकर्म का अर्थ भी जिनपूजा ही समझना है।)

श्री ज्ञातासूत्र मे द्रौपदी की पूजा का विस्तृत अधिकार है। (द्रौपदी परम सम्यग्दृष्टि श्राविका थी। शासन-प्रभावना सम्यक्त्व के आठ आचारो मे से एक है। श्री जिनप्रतिमा की महोत्सवपूर्वक पूजा भी शासन-प्रभावना का तथा शासन-उन्नति का एक परम अग है, ऐसा श्री उत्तराध्ययन आदि सूत्रो मे वर्णित है।)

हिंसा का वास्तविक स्वरूप

"श्री जिनपूजा मे हिंसा होती है" ऐसा कहकर जो उसका

निषेध करते हैं उनके लिए भी उनको मान्य बत्तीस आगमों के आधार पर नीचे अनुसार हितशिक्षा है—

जिस-जिस क्रिया में हिंसा होती है, वह यदि त्याज्य है तो सुपात्रदान, मुनिविहार, सार्धमिक-वात्सल्य तथा दीक्षा महोत्सव आदि सभी धर्मकार्य भी त्याज्य ही माने जायेंगे। परन्तु **श्री आवश्यक सूत्र, श्री भगवती सूत्र, श्री आचारांग सूत्र** और श्री ज्ञातासूत्र आदि आगमों में मुनिदान, साधुविहार और सार्धमिक वात्सल्य आदि धर्मकार्य करने की साधु तथा श्रावक दोनों को आज्ञा दी गई है।

श्री उववाई सूत्र में राजा कोणिक द्वारा किए गए प्रभु के वन्दन-महोत्सव का विस्तृत वर्णन है।

श्री भगवती सूत्र में उदायन राजा द्वारा किया हुआ भगवान के नगर-प्रवेश महोत्सव का तथा तुंछीया नगरी के श्रावकों द्वारा की गई श्री जिनपूजादि का वर्णन है।

श्री विपाक सूत्र में सुबाहुकुमार का वर्णन है। उसमें मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक पर रहे हुए भी उन सुबाहुमार द्वारा किये हुए सुपात्रदान से पुण्यबंध तथा परीत्त-संसार होने का कहा है। जो हिसा के योग से केवल अधर्म ही होता तो सुबाहुकुमार को पुण्यबंध की प्राप्ति तथा परित्त-संसारिता की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती थी? पर सच्ची बात तो यह है कि दान की भाँति जिनपूजा भी परित्त-संसार तथा पुण्यबंध का कारण होती है।

श्री जिनपूजा तथा सुपात्रदानादि धर्मकार्यों में आरम्भ होता

है पर फिर भी वह सदारम्भ है और उसके योग से ससार के अन्य असदारम्भ से निवृत्ति होती है, यह वडा लाभ है। जो लोग घर, कुटुम्ब, धन-माल, परिवार, विरादरी आदि असदारम्भो से मुक्त नही हुए हैं, उनके लिए दान, देवपूजा, स्वामिवात्सल्य आदि सदारम्भ हितकारी तथा करणीय है।

श्री रायपसेणी सूत्र मे श्री केशी नाम के गणधर भगवन्त ने प्रदेशी राजा को असदारम्भ छोडने के लिए कहा है न कि सदारम्भ। सदारम्भ मे दो गुण हैं। जहाँ तक सदारम्भ रहता है, वहाँ तक असदारम्भ नही हो सकता तथा सदारम्भ मे जो द्रव्य खर्च होता है उस द्रव्य से असदारम्भ का सेवन नही होता।

हिंसा के तीन प्रकार :

साधु अथवा श्रावक के जितने भी उत्तम कार्य हैं उनमे हिंसा निहित है। परन्तु यह हिंसा कर्मवन्ध का कारण नही है। हिंसा तीन प्रकार की कही गई है हेतु, स्वरूप और अनुवध। सासारिक कार्यों की सिद्धि के लिए होने वाली हिंसा हेतु-हिंसा है। धर्मकार्यों के लिए होने वाली अनिवार्य हिंसा स्वरूप-हिंसा है तथा मिथ्यादृष्टि आत्मा से होने वाली हिंसा अनुवन्ध हिंसा है। इनमे स्वरूपहिंसा कर्मवन्ध का कारण नही है।

धर्मकार्य के समय प्राणी की हत्या का नही परन्तु उसकी रक्षा करने का उद्देश्य होता है पर फिर भी अनिवार्य रूप से यदि हिंसा हो जाती है तो वह स्वरूप-हिंसा है। स्वरूपहिंसा तेरहवें गुणस्थानक तक नही टल सकती परन्तु इसे केवलज्ञानादि गुणो की प्राप्ति मे प्रतिवन्धक नही माना गया है।

हेतु-हिसा व अनुबन्ध-हिंसा त्याज्य है क्योंकि वे संसार के हेतुभूत क्लिष्ट कर्मो के उपार्जन में हेतुभूत है। श्री आचारांगादि सिद्धान्तों में अपवाद रूप से हिंसा आदि का प्रयोग करने वाले मुनिवरों को तथा समुद्र के जल में अप्कायादि की विराधना होते हुए भी शुभध्यानारूढ़ मुनिवरों को केवलज्ञान तथा मुक्ति-प्राप्त होने के उदाहरण है। संयमशुद्धि के लिए आवश्यक साधु-विहारादि की भाँति श्री जिनभक्ति आदि में होने वाली हिंसा को श्री जिनआगमों ने कर्मवन्ध करने वाली नही माना है। केवल दया की निरपेक्ष प्रधानता, लौकिक मार्ग है। लोकोत्तर मार्ग श्री जिनाज्ञा की प्रधानता में बसा हुआ है।

श्री जिनशासन स्याद्वादगर्भित है। सुविवेक पूर्वक के आशयभेद से हिसा भी अहिंसा बन जाती है तथा विवेकहीन की अहिंसा भी हिंसा वन जाती है। आत्मभाव का जिसमें हनन होता है वह हिसा है पर जिससे आत्मभाव का हनन नही होता, वह हिंसा नही है। दान, देवपूजा, प्रतिक्रमण, पौषध, साधु-विहार तथा सार्धमिक वात्सल्य आदि आत्मा का हनन करने वाली क्रियाएँ नही है और इसीलिए वे परम्परा से पूर्ण अहिंसा मय है और वे मुक्ति दिलाती है। 'मुक्ति के साधनों का सेवन करते समय होने वाली अनिवार्य हिसा आत्मभाव का हनन करने वाली नहीं होती' यह बोध जिन्हें नहीं मिला वे धर्मबुद्धि से ही अधर्म का सेवन करने वाले बन जाते है अथवा अधर्म के सेवन को ही धर्म का कारण मानने लगें तो इसमें कोई बड़ी वात नहीं है।

दानादि शुभ कार्यो की भाँति श्री जिनपूजा आत्मभाव को विकसित करने वाली है; अतः हिसा के नाम पर इससे दूर

रहना या दूसरो को दूर भगाना घोर अज्ञानतापूर्ण आत्मघाती कदम है।

मूर्ति को नहीं मानने से होने वाले नुकसान :

मूर्ति को नही मानने से निम्नलिखित नुकसान स्पष्ट हैं

१ मूर्ति को नही मानने के कारण ३२ उपरान्त के आगमो से, पूर्वधरो द्वारा बनाये गये निर्युक्ति आदि ज्ञान के समुद्र समान महाशास्त्रो से तथा उनके उत्तमोत्तम सद्बोधो से वञ्चित रहना पडता है और आगमो के सूत्रो को एव ग्रन्यकर्ता प्रामाणिक महापुरुषो को अप्रामाणिक कहकर ज्ञान तथा ज्ञानियो की आशातना से घोर पापकर्मों का उपार्जन होता है।

२ बत्तीस आगमो की भी निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि वगैरह नही मानने से, उनके विरुद्ध स्वकपोल-कल्पित टीका-टब्बे आदि बनाकर, स्व-पर को अनर्थ के भयकर गड्ढे मे डुबोना है।

३ अन्य चरित्रादि ग्रन्थो मे से मूर्ति-विषयक पाठ उडा कर उनकी जगह स्व-कल्पित पाठ लिखकर सैकडो ग्रन्थो मे मूल ग्रन्थकर्ता के अभिप्राय के विरुद्ध उथल-पुथल और चोरियाँ करनी पडती हैं, इससे भी महाकर्मबन्धन होता है।

४ मूर्ति को नही मानने से यात्रा हेतु तीर्थस्थानो मे जाना आदि स्वत ही बन्द हो जाता है। इससे तीर्थस्थानो मे यात्रा निमित्त जाने के जो लाभ होते हैं वे अपने आप बन्द हो जाते हैं। तीर्थभूमि मे जाने पर उतने समय के लिए गृहकार्य, व्यापार, आरम्भ, परिग्रहादि से स्वाभाविक मुक्ति मिलती है पर जब ऐसे

स्थानों पर जाना ही बन्द हो जाता है तब ब्रह्मचर्यपालन तथा शुभ क्षेत्रों में द्रव्य-व्यय आदि द्वारा जो पुण्योपार्जन होता है, वह रुक जाता है।

५. मूर्ति को नही मानने से श्री जिनेश्वरदेव की द्रव्यपूजा छूट जाती है और इससे द्रव्यपूजा निमित्त जो शुभ द्रव्य व्यय होता है तथा भगवान के सामने स्तुति, स्तोत्र, चैत्यवन्दनादि होते हैं, वे रुक जाते है और श्री जिनमन्दिर जाकर प्रभुभक्ति के निमित्त अपने समय और द्रव्य का सदुपयोग करने वाले पुण्यवान आत्माओं की टीका और निन्दा करना ही बाकी रहता है। इससे क्लिष्ट कर्मो का उपार्जन और अज्ञानादि महान् दोषों की प्राप्ति होती है।

६. मूर्ति को नही मानने से श्री जैनसंघ की एकता को बड़ा आघात होता है तथा एक ही धर्म के मानने वाले व्यक्तियों में धर्म के निमित्त फूट के बीजों का बीजारोपण होता है जिससे अन्य लोगों में भी जैनधर्म की हँसी होती है। प्रवचन की मलिनता करवाना महान् दोष है। इतना ही नहीं, इससे जैन धर्म के प्रति जैनेतरो का जो आकर्षण है वह भी स्वाभाविक रूप से कम हो जाता है।

प्रतिमा-पूजन से होने वाले लाभ :

अब श्री जिनप्रतिमा की पूजा से होने वाले लाभों से भी परिचय प्राप्त कर लें—

१. सदा पूजा करने वाला व्यक्ति पाप से डरता है तथा पर-स्त्रीगमन आदि अनीतिपूर्ण अपकृत्य करने के संस्कार इसकी आत्मा में से धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं।

२ कुछ समय प्रभु के गुणगान करने का अवसर निरन्तर प्राप्त होता है और इससे थोडी बहुत अन्त करण की शुद्धि होती है।

३ सदा पूजा करने वाले का थोडा बहुत द्रव्य भी प्रतिदिन शुभ क्षेत्र मे खर्च होता है, जिसमे पुण्यबध होता है।

४ अनीति, अन्याय और आरम्भ से उपार्जित द्रव्य भी यदि अनीति के त्याग की भावना मे तथा पश्चातापपूर्वक मन्दिर बनवाने के काम मे लगाया जाय तो इससे दुर्गति रुकती है। मन्दिर आदि बँधवाने से लाखो लोग इसका लाभ लेते हैं। धन का लाभ तथा व्यय-दोनो ही कर्मबध का कारण होते हुए भी मन्दिर आदि बनवाने मे इसका उपयोग होने से वह कर्म निर्जरा का कारण बन जाता है।

५ सदा प्रतिमा की पूजा करने से तीर्थयात्रा करने की शुभ भावना रहती है। तीर्थयात्रा करने से चित्त की निर्मलता, शरीर का स्वास्थ्य और दान, शील तथा तप की वृद्धि आदि महान् लाभ प्राप्त होते है।

६ बीमारी वगैरह मे सेवा-पूजा नही भी हो सके तो भी भावना सेवा-पूजा की ही रहती है और ऐसी दशा मे कभी मृत्यु भी हो जाय तो भी जीव की शुभ गति होती है।

७ गृहस्थो के आत्मकल्याण के लिए मन्दिर और मूर्ति मुख्य साधन है। सुविहित शिरोमणि आचार्य भगवान श्रीमद् हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज फरमाते हैं "आरम्भ मे आसक्त बने हुए, छह काय जीव के वध से नही बचे हुए एव भवसागर मे

भटकते गृहस्थों के लिए निश्चित रूप से द्रव्यस्तव ही आलम्बनभूत है। इन सब लाभों का विचार करके और कुछ नहीं भी बन सके तो भी श्री जिनेश्वरदेव की प्रतिमा के पूजन के लिए तो प्रत्येक कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को तत्पर रहना ही चाहिए। इस मानव-जन्म में श्री जिनपूजा की पवित्र एवं कल्याणकारी प्रवृत्ति के आचरण में थोड़ा भी प्रमाद करना विवेकी लोगों के लिये उचित नहीं है। □□□

मंगल-कामना

नेत्रानन्दकरी भवोदधितरी श्रेयस्तरोर्मञ्जरी,
श्रीमद्धर्ममहानरेन्द्रनगरी, व्यापल्लताधूमरी।
हर्षोत्कर्षशुभप्रभावलहरी, रागद्विषां जित्वरी,
मूर्तिः श्री जिनपुङ्गवस्य, भवतु, श्रेयस्करी देहिनाम् ॥ १ ॥

श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति—भक्तजनो के नेत्रों को आनंद पहुंचाने वाली है, संसार रूपी सागर को पार करने के लिये नाव समान है, कल्याणरूपी वृक्ष की मंजरी जैसी है, धर्म रूप महा नरेन्द्र की नगरी तुल्य है, नाना प्रकार की आपत्ति रूपी लताओ का नाश करने के लिये धूमरी-धूमस जैसी है, हर्ष के उत्कर्ष के शुभ प्रभाव का विस्तार करने में लहरो का काम करने वाली और राग तथा द्वेष रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराने वाली है, ऐसी **श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति**—जगत् के जीवो का कल्याण करने वाली बनो !

10

चार निक्षेपों का शास्त्रीय स्वरूप

श्री अनुयोगद्वार सूत्र मे शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं—

जत्थ य ज जाणेज्जा, निक्खेव निक्खिवे निरवसेस ।
जत्थ वि य न जाणेज्जा, चउक्कय निक्खिवे तत्थ ।। १ ।।

जहाँ जिस वस्तु मे जितने निक्षेप ज्ञात हो वहाँ उस वस्तु मे उतने निक्षेप करना और जहाँ जिस वस्तु मे अधिक निक्षेप मालूम नही हो सकें वहाँ उस वस्तु मे कम से कम चार निक्षेप तो अवश्य करने चाहिए । तात्पर्य यह है कि जगत् के सभी छह द्रव्यो, नौ तत्त्वो, पांच परमेष्ठियो तथा नौ पदो, इन सभी मे कम से कम चार निक्षेप तो अवश्य किये जा सकते है ।

किसी भी वस्तु का स्वरूप जानने के लिए सामान्य रूप से कम से कम चार निक्षेप तो अवश्य किये जाते है, वे इस प्रकार हैं—

१. **नाम निक्षेप**—वस्तु के आकार एवं गुण से रहित नाम को नाम निक्षेप कहते है।

२. **स्थापना निक्षेप**—वस्तु के नाम तथा आकार सहित परन्तु गुणरहित, उसे स्थापना निक्षेप कहते है।

३. **द्रव्य निक्षेप**—वस्तु के नाम और आकार तथा अतीत और अनागत गुण सहित परन्तु वर्तमान गुण रहित को द्रव्य निक्षेप कहते है।

४. **भाव निक्षेप**— वस्तु के नाम, आकार और वर्तमान गुण सहित को भाव निक्षेप कहते है।

उदाहरण स्वरूप—श्री जिनेश्वर देवों के **'महावीर'** आदि नाम, वे **नाम जिन;** उन तारकों की प्रतिमा, **वे स्थापनाजिन,** जिन-नाम-कर्म बाँधा हो ऐसे श्री जिनेश्वरदेव के जीव, वे **द्रव्यजिन** और समवसरण में धर्मोपदेश देने के लिए विराजमान साक्षात् श्री जिनेश्वरदेव, वे **भावजिन कहलाते हैं।** इस प्रकार श्री जिनेश्वरदेव के चार निक्षेप समझने चाहिए।

इन चार निक्षेपो के अभाव में किसी भी वस्तु का वस्तुपना सिद्ध नहीं हो सकता। जगत् में शश-श्रृंग नही हैं तो उनका वाचक शुद्ध शब्द भी नहीं है। जिसका नाम नही होता, उसकी आकृति भी किसी प्रकार बन नही सकती। जिसका नाम अथवा आकार दोनो नही होते उसकी पूर्वापर अवस्था और वर्तमान अवस्था रूप पर्याय के आधारभूत द्रव्य भी नही होता; जहाँ नाम, स्थापना तथा द्रव्य इन तीनो का अभाव होता है, वहाँ वस्तु का भाव या गुण तो हो ही कैसे सकता है ?

इसलिए नामादि निक्षेप विहीन किसी पदार्थ का इस जगत् मे अस्तित्व होता ही नही है। अत द्रव्यादिक तीनो निक्षेपो को माने बिना केवल भावनिक्षेप को मानने की वात शशशृगवत् कल्पित है। जिसका नाम, उसी की स्थापना, जिसकी स्थापना उसी का द्रव्य, उसी का भाव। इस प्रकार प्रत्येक पदाथ मे चारो निक्षेप एक साथ रहे हुए है।

किसी भी वस्तु को पहचानने के लिए सर्वप्रथम उसका नाम जानने की आवश्यकता होती है, यह **नामनिक्षेप** है। नाम जान लेने के पश्चात् उसी वस्तु की विशेष पहचान के लिए उसकी आकृति, आकार अथवा स्थापना जानने की जरूरत होती है, वह **स्थापनानिक्षेप** है। उसी वस्तु के सम्बन्ध मे उससे भी अधिक ज्ञान प्राप्त करना हो तो उसके गुण-दोष बताने वाली उसकी आगे-पीछे की अवस्था का निरीक्षण करना पडता है, उसको **द्रव्यनिक्षेप** कहा जाता है तथा इन तीनो निक्षेपो के स्वरूप का प्रत्यक्ष बोध कराने वाली साक्षात् जो वस्तु है, उसे **भावनिक्षेप** माना जाता है। भाव निक्षेप का यथार्थ ज्ञान करने के लिए प्रथम के तीनो निक्षेपो के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

जगल मे अमूल्य वनस्पतियाँ होते हुए भी जिनके नाम तथा आकारादि का ज्ञान नही होता है, उनके गुणो का भी ज्ञान नही हो सकता है। नामादि तीनो निक्षेपो के ज्ञान से विहीन आत्मा के लिए भावनिक्षेप को विपरीत रूप से ग्रहण करने की अधिक सम्भावना है। जिस बालक को सोमल अथवा सर्प आदि विषमय वस्तु के नाम, आकार आदि का ज्ञान नही होता, ऐसा अज्ञानी बालक साक्षात् सोमल या सर्प वगैरह से बच नही सकता। इससे सिद्ध होता है कि भाव का साक्षात् ज्ञान कराने वाला अकेला

भाव नहीं पर उसका नाम, आकार तथा पूर्वापर अवस्था, ये सब मिलकर ही किसी भी पदार्थ के भाव का निश्चित बोध कराते हैं।

केवल भावनिक्षेप को मानकर जो नाम आदि निक्षेपों को मानने से इन्कार करते है, उन्हें कोई दुष्ट व्यक्ति उनके पूज्य या प्रिय व्यक्ति का नाम लेकर निंदा करे, गाली दे या तिरस्कार करे तो क्या उनको क्रोध नही आता? अथवा उसी पूज्य या प्रिय व्यक्ति के नाम से उनकी तारीफ करे तो क्या खुशी नहीं होती? अवश्य होती है। अतः नामनिक्षेप व्यर्थ है, ऐसा कहने वाला मिथ्याभाषी है।

इसी प्रकार अपने पूज्य आदि के चित्र को किसी दुराचारी स्त्री के साथ रखकर उस पर से कुचेष्टा वाला चित्र लेकर कोई नालायक व्यक्ति स्थान-स्थान पर उसकी अपकीर्ति करे तो इससे मूर्ति को नहीं मानने वालों को भी क्या क्रोध नहीं आएगा? अवश्य आएगा। अर्थात् स्थापनानिक्षेप व्यर्थ है, ऐसा कहना अनुचित है।

नाम और स्थापना की भाँति ही अपने पूज्य आदि की पूर्वापर अवस्था की बुराई या भलाई सुनने से क्रोध या आनन्द पैदा होता है और पूज्य के लिए साक्षात् अपकीर्ति और अपशब्द सुनने पर भी इनके चाहने वालों को अवश्य दुःख होता है तथा प्रशंसा सुनने पर सुख की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि चारों निक्षेपों में भिन्न-भिन्न प्रभाव पैदा करने की शक्ति प्रकट रूप से रही हुई है।

१. नाम निक्षेप .

किसी भी वस्तु के साकेतिक नाम के उच्चारण से उस वस्तु का वोध कराना प्रथम नाम निक्षेप का विषय है। श्री ऋषभादिक चौवीस तीर्थंकरो के नाम, उनके माता-पिता ने जन्म-समय पर रखे होते हैं। इसमे कारण, उनके गुण नही किन्तु केवल पहिचानने का सकेत है। नाम रखने मे यदि गुण ही कारण होता तो सभी तीर्थंकर समान गुणवाले होने के कारण सभी का एक ही नाम रखना चाहिए था।

समान गुण वालो के भिन्न नाम तो तभी हो सकते है जव नाम रखते समय गुण की अपेक्षा आकार आदि की भिन्नता पर भी लक्ष्य दिया जाय। चौवीस तीर्थंकरो के गुण समान होते हुए भी प्रत्येक के आकार, पूर्वापर अवस्था आदि मे भिन्नता थी। उसी प्रकार एक ही नाम की जहाँ अनेक वस्तुएँ होती हैं वहाँ भी नाम द्वारा जिस वस्तु विशेप का वोध होता है उसका कारण भी उस वस्तु मे रहने वाली गुण, आकार आदि की भिन्नता है। जैसे 'हरि' दो अक्षर का नाम है पर उससे अनेक वस्तुओ का सकेत होता है। 'हरि' शव्द कहते ही 'कृष्ण, सूर्य, वन्दर, सिह और घोडा' आदि अनेक अर्थो का वोध होना शक्य होने पर भी ऐसा नही होकर केवल कृष्ण का ही वोध होता है। इसका कारण उस शव्द को वोलने वाले का अभिप्राय कृष्ण ही कहने का है। इसी प्रकार सूर्य के ध्येय से 'हरि' शव्द वोलने से केवल सूर्य का ज्ञान होता है पर कृष्णादि अन्य वस्तुओ का ज्ञान नही होता।

इससे सिद्ध होता है कि अनेक सकेत वाले एक नाम मे भिन्न-भिन्न सकेतो को वोध कराने की जो शक्ति है, उसका कारण

अकेला नाम निक्षेप नहीं पर उन नामों के साथ अन्य सभी निक्षेपों का होने वाला बोध है।

दूसरा उदाहरण 'कोट' शब्द का लेते हैं। 'कोट' शब्द से पहिनने का वस्त्र तथा नगर की परिक्रमा करती चारदीवारी, आदि अर्थों का बोध होता है। परन्तु जब वस्त्र के उद्देश्य से 'कोट' शब्द का प्रयोग होता है तब अन्य अर्थों का बोध नहीं होता। इसी प्रकार गढ़ के हेतु से 'कोट' शब्द का प्रयोग करते समय वस्त्र आदि का ज्ञान नहीं होता, इसका कारण उन वस्तुओं के चारों निक्षेप भिन्न होने के अतिरिक्त क्या है?

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि बाकी के तीन निक्षेप उन्हीं के वन्दनीय एवं पूजनीय है, जिनके भावनिक्षेप वन्दनीय और पूजनीय है और इसी कारण **श्री भगवती, श्री उववाई** और **श्री रायपसेणी** आदि सूत्रों में श्री तीर्थंकरदेव तथा अन्य ज्ञानी महर्षियों के नामनिक्षेप भी वन्दनीय है, ऐसा कहा गया है।

उन-उन स्थानों पर कहा गया है—"श्री अरिहन्त भगवन्तों का नाम-गोत्र भी सुनने से वास्तव में महाफल होता है।"

नामनिक्षेप का महत्त्व बताने के लिए **श्री ठाणांग सूत्र** के चौथे और दसवें स्थान में भी कहा गया है कि—

"चउव्विहे सच्चे पन्नत्ते, तं जहा-नाम सच्चे, ठवणसच्चे, दव्वसच्चे भावसच्चे। तथा दसविहे सच्चे पनत्ते ते जहा—

जणवयसम्मयठवणा, नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।
ववहारभावजोगे, दसमे उवम्मसच्चे अ॥ १॥

चार प्रकार के सत्य बताये गये है —नाम सत्य, स्थापना सत्य, द्रव्य सत्य और भाव सत्य तथा श्री तीर्थंकरदेवो ने दस प्रकार के सत्य भी बतलाये हैं। जनपदसत्य, सम्मतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य, योगसत्य और उपमासत्य।

इस प्रकार दो चार अक्षरो के नाम की सत्यता और उससे भी महान् फल की सिद्धि होती है, ऐसा शास्त्रकार महापुरुषो ने स्थान-स्थान पर प्रतिपादित किया है, तो फिर श्री वीतरागदेव के स्वरूप का भान कराने वाली शान्त आकार वाली भव्य मूर्ति के दर्शन-पूजन आदि से अनेक गुण लाभ हो तो इसमे क्या आश्चर्य है ?

१ जनपद सत्य—पानी को किसी देश मे पय, किसी मे पीच्च, किसी मे उदक और किसी मे जल कहते हैं, यह जनपद सत्य है।

२ सम्मत सत्य—कुमुद, कुवलय आदि पुष्प भी कमल से उत्पन्न होते हैं फिर भी पकज शब्द अरविंद, कुसुम को ही सम्मत है, यह सम्मत सत्य है।

३ स्थापना सत्य—लेप आदि के विषय मे अरिहन्त प्रतिमा, एक आदि अक विन्यास और कार्षापण आदि के विषय मे मुद्राविन्यास आदि, ये सब स्थापना सत्य है।

४ नाम सत्य—कुल की वृद्धि न करता हो तो भी 'कुलवर्धन' आदि नाम, यह नाम सत्य है।

५. रूप सत्य—व्रत का आचरण न करता हो और केवल लिंग मात्र से व्रती कहलाये, यह रूप सत्य है।

६. प्रतीत्य सत्य—अनामिका अंगुली कनिष्ठा के सम्बन्ध से दीर्घ और मध्यमा के सम्बन्ध से लघु कहलाती है, यह प्रतीत्य सत्य है।

७. व्यवहार सत्य—पर्वत पर घास आदि जलने पर भी यह कहना कि 'पर्वत जलता है,' पानी जमने पर यह कहना कि 'घड़ा जमता है' तथा उदर होते हुए भी यह कहना कि अनुदरा कन्या,—ये सब व्यवहार सत्य हैं।

८. भाव सत्य—बगुला सफेद और भ्रमर श्याम कहा जाता है। वास्तव में तो उन दोनों में पाँचों वर्ण हैं, फिर भी वर्ण की उत्कटता के कारण बगुले को सफेद व भ्रमर को श्याम कहना, यह भाव सत्य है।

९. योग सत्य—दंड के योग से दंडी, छत्र के योग से छत्री आदि कथन, योग सत्य है।

१०. उपमा सत्य—समुद्र के समान तालाब आदि का कथन, उपमा सत्य है।

२. स्थापना निक्षेप :

जिस वस्तु का नाम मात्र सुनकर उसका बोध और भक्ति होना सम्भव है, तो वस्तु की आकृति अथवा जिसमें नाम के उपरान्त आकार है उससे अधिक बोध और भक्ति कैसे नहीं होगी? और उसे करने के लिए कौन इच्छा नहीं करेगा?

नाम निक्षेप जिस प्रकार शास्त्र सिद्ध है, उसी प्रकार स्थापना निक्षेप भी अनेक शास्त्रो से सिद्ध है।

श्री अनुयोगद्वार सूत्र मे दस प्रकार से स्थापना का स्थापन करने को कहा गया है। १ काष्ठ मे, २ चित्र मे, ३ पुस्तक मे, ४ लेपकर्म मे, ५ गु थन मे, ६ वेष्टन क्रिया मे, ७ धातु का रस डालने मे, ८ अनेक मणियो के सघात मे, ९ शुभाकार पाषाण मे और १० छोटे शख मे।

इन दस प्रकारो मे से किसी भी प्रकार मे क्रिया तथा क्रियावान् पुरुष का अभेद मानकर, हाथ जोडे हुए तथा ध्यान लगाये हुए आवश्यकक्रिया सहित साधु की आकृति अथवा आकृतिरहित स्थापना करना अथवा आवश्यक सूत्र का पाठ लिखना, यह स्थापना आवश्यक कहलाता है।

हाथ जोडकर तथा ध्यान लगाकर क्रिया करने वाले का रूप यदि सद्भाव स्थापना है तो पद्मासनयुक्त, ध्यानारूढ, मौनाकृति, श्री जिनमुद्रासूचक प्रतिमा स्थापनाजिन कैसे नही कहलाएगी ? यदि प्रतिमा स्थापनाजिन नही, तो पूर्वोक्तस्वरूप आवश्यक भी स्थापना आवश्यक नही कहलाएगा और ऐसा करने से श्री अनुयोगद्वार सूत्र के पाठ का अपलाप हो जाएगा। सूत्र के पाठ का लोप अथवा अपलाप जिसको नही करना हो उसे तो श्री जिनस्वरूप प्रतिमा को 'स्थापना-जिन' के रूप मे नि सन्देह स्वीकार करना ही पडेगा।

यदि स्थापना को निरर्थक माना जाय तो जैनधर्म के सभी सूत्र-सिद्धान्त भी व्यर्थ बन जाते है क्योकि वे भी श्री वीतराग देव के अरूपी ज्ञान के अश रूपी अक्षरो की स्थापना ही है और

यदि सूत्र-सिद्धान्तों का लोप होता है तो जैनधर्म का ही लोप हो जाता है। जिनको धर्म का लोपक नहीं बनना है, वे स्थापना की उपेक्षा किसी प्रकार नहीं कर सकते।

जिस प्रकार नाम के साथ चार निक्षेप जुड़े हुए हैं, उसी प्रकार स्थापना के साथ भी चार निक्षेप जुड़े हुए है। यदि ऐसा न हो तो कुत्ते का चित्र देखने पर बिल्ली का ज्ञान हो जाना चाहिए और बिल्ली का चित्र देखने पर कुत्ते का ज्ञान होना चाहिए। परन्तु कुत्ते का चित्र देखकर कुत्ते का ही ज्ञान होता है और किसी का नहीं, क्योंकि चित्र देखते ही कुत्ते के चार निक्षेप का ज्ञान होता है। जिसका चित्र देखने में आता है उसके चार निक्षेप मन में स्पष्ट हो जाते है।

यदि ऐसा नहीं होता तो भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा देखने पर श्री पार्श्वनाथ प्रभु का स्मरण हो जाना चाहिए क्योंकि दोनों के भाव निक्षेप समान है। भाव निक्षेप समान होते हुए भी एक तीर्थंकर की मूर्ति देखने से अन्य तीर्थंकरों का बोध नहीं होता, इसका कारण मूर्ति के साथ जुड़े हुए अन्य निक्षेप हैं। निक्षेपो का विषय यदि व्यर्थ है तो एक 'कुमुदचन्द्र' का नाम लेने या उसकी मूर्ति देखते समय जितने 'कुमुदचन्द्र' हों, उन सबका ज्ञान उस समय होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता, केवल एक का ही ज्ञान होता है। अर्थात् एक नाम या एक मूर्ति वाले भिन्न-भिन्न पुरुष के चार-चार निक्षेप भी भिन्न-भिन्न है, यह बात सिद्ध होती है।

जैसे किसी के गुरु का नाम श्री 'रामचन्द्र' है और उस नाम के संसार में लाखों पुरुष विद्यमान है। गुरु के नाम वाले 'रामचन्द्र' ऐसे अक्षरो में गुरु के आकार का तो कोई भी चिह्न

नही है तो फिर नाम मात्र से उस नाम के हजारो, लाखो पुरुषो मे से किसका स्मरण और किसको नमस्कार सिद्ध होगा ? यदि कहोगे कि 'रामचन्द्र' शब्द से मात्र गुरु का ही स्मरण और गुरु को ही नमस्कार हुआ पर अन्य को नही तो कहना ही पडेगा कि—'रामचन्द्र' नाम के दूसरे सभी पुरुषो को नमस्कार नही करने के लिए और केवल श्री 'रामचन्द्र' नाम के अपने गुरु को ही नमस्कार करने के लिए गुरु की आकृति आदि को मन मे स्थापित की हुई ही होगी। इस प्रकार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्थापनादि निक्षेप, स्वाभाविक रूप से गले मे पड ही जाते हैं।

यहाँ यदि ऐसी शका हो कि स्थापना निर्जीव होने से कार्यसाधक और पूजनीय कैसे बन सकती है ? तो इसका समाधान है कि निर्जीव वस्तुमात्र यदि निरर्थक और अपूजनीय हो तो श्री समवायाग, श्री दशाश्रुतस्कध तथा श्री दशवैकालिक आदि सूत्रो मे फरमाया है कि गुरु के पाट, पीठ, सथारा आदि वस्तुओ को पैर की ठोकर लग जाय तो भी शिष्य को गुरु की आशातना का दोप लगता है। गुरु के पाट वगैरह तो निर्जीव ही है।

पूर्वोक्त वस्तुएँ निर्जीव होते हुए भी गुरुओ की स्थापना होने के नाते उनका अविनय करने से शिष्य को आशातना लगती है और विनय करने से भक्ति एव शुभ फल की प्राप्ति होती है। इसी भाँति श्री जिनेश्वरदेव की मूर्ति श्री जिनेश्वरदेव की ही स्थापना होने से उसकी आशातना या उसका विनय करने से अशुभ या शुभ फल की प्राप्ति होती है। श्री जैनशासन मे विनय को ही मुख्य गुण माना गया है। उस गुण के पालन के

लिए श्री जिनेश्वरदेव की स्थापना स्वरूप मूर्ति की भक्ति आदि करना भी जैनधर्म मे मुख्य वस्तु गिनी जाती है।

यहाँ तक कि साधुओं के वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण और मुँहपत्ति आदि उपकरण निर्जीव होते हुए भी उनके द्वारा चारित्रगुण की साधना हो सकती है। शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा है कि लकड़ी के घोड़े से खेलते हुए बालक को दूर हटाने के लिए कोई साधु उसे ऐसा कहे कि हे बालक! तेरी लकड़ी हटा, तो मुनि को असत्य बोलने का दोष लगता है। इस दोष से बचने के लिए साधु को ऐसा ही कहना चाहिए कि—हे बालक! तुम्हारा घोड़ा हटाओ; लकड़ी में कोई साक्षात् घोड़ापन तो है ही नहीं; केवल उसकी असद्भूत स्थापना है, तब भी उसे मानना जरूरी है, तो श्री जिनप्रतिमा को, जो श्री जिनेश्वरदेवों की सद्भूत स्थापना है, उसे माने बिना कैसे चल सकता है?

शक्कर के खिलौने जैसे हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, गाय, मनुष्य आदि खाने से पंचेन्द्रिय की हत्या करने का पाप लगता है, ऐसा दया धर्म को समझने वाले सभी मानते हैं। वे सभी वस्तुएँ निर्जीव है फिर भी उनमे जीव की स्थापना होने से ही उनको खाने का निषेध किया गया है। इसके सिवाय दूसरा कोई भी कारण ज्ञात नही होता।

दीवार पर चित्रित स्त्री की आकृति विकार का हेतु होने से साधु को उसे नहीं देखना चाहिए। ऐसा जो निषेध किया गया है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि निर्जीव वस्तुएँ असर करने वाली होती हैं।

स्थापना निर्जीव होने पर भी उसके प्रभाव को जानने के लिए निम्नलिखित दृष्टांत विश्वविख्यात है:—

१ अपने पति के चित्र को देखकर पतिव्रता स्त्री खूब प्रसन्न होती है, परन्तु उसमे कभी द्वेष की भावना दिखाई नही देती है।

२ प्रजावत्सल राजाओ की प्रतिकृतियाँ देखकर वफादार प्रजा नाराज न होकर प्रसन्न ही होती है और इसी कारण ऐसे राजा-महाराजाओ की तथा महान् पराक्रमी पुरुषो की प्रतिमाएँ उनकी यादगार मे बने हुए स्थानो पर नजर आती हैं।

३ परदेशवासी अपने स्वजन आदि के हस्ताक्षर वाले पत्र को देखकर भी अपने हितैषियो के स्नेहमिलन जैसा सन्तोष अनुभव करते हैं।

४ अपने ज्येष्ठ तथा इष्टमित्रो की तस्वीर देखकर उनके उपकार और गुणो का स्मरण हो आता है और हृदय प्रेम से पुलकित हो जाता है।

५ कामशास्त्र मे स्त्री-पुरुषो के विषय-सेवन के चौरासी आसन आदि देखने से कामीजनो को तुरन्त कामविकार उत्पन्न होता है।

६ योगासन की विचित्राकार स्थापना देखने से योगी पुरुषो की बुद्धि योगाभ्यास मे प्रीति को धारण करने वाली होती है।

७ भूगोल का अभ्यास करने वाले नक्शादि देखकर विश्व की अनेक वस्तुओ का ज्ञान आसानी से कर सकते है।

८ शास्त्र सम्बन्धी अक्षरो की स्थापना मे उनको देखने वाले मनुष्य को तमाम शास्त्रो का ज्ञान भी हो जाता है।

९. खेतों में पुरुष की आकृति खड़ी करने से वह आकृति निर्जीव होते हुए भी उसके द्वारा खेत की रक्षा अच्छी तरह से हो सकती है।

१०. लोगों में कहावत है कि अशोक वृक्ष की छाया चिन्ता को दूर करती है। चंडाल पुरुषों की अथवा रजस्वला स्त्रियों की छाया अशुभ असर करती है और गर्भवती स्त्री की छाया का उल्लंघन करने से योगी पुरुषों का पुरुषार्थ नष्ट होता है—यह विज्ञानसिद्ध है।

११. सती स्त्री का पति परदेश गया हो तब वह स्त्री अपने पति के फोटो (Photo) का रोज दर्शन कर संतोप प्राप्त करती है। श्री रामचन्द्रजी वनवास गये तब उनके भाई भरत महाराजा, राम की चरण-पादुका को राम की तरह ही पूजते थे। सीताजी भी राम की अंगूठी को हृदय से लगाकर राम के साक्षात् मिलन का आनन्द अनुभव करती थी। हनुमान द्वारा लाये हुए सीता के आभूषणों को देखकर रामचन्द्रजी भी अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

श्री पांडवचरित्र में भी कहा गया है कि द्रोणाचार्य की प्रतिमा स्थापित करके उनके पास से एकलव्य नाम के भील ने अर्जुन जैसी धनुषविद्या सिद्ध की थी।

उपर्युक्त दृष्टांत ऐसे भी है जिनमें शरीर का विशेष आकार नहीं है, ऐसी निर्जीव वस्तुओं से भी सन्तोष का अनुभव प्राप्त होता हुआ देखा जा सकता है तो फिर साक्षात् परमात्मा के स्वरूप का बोध कराने वाली प्रभुप्रतिमा जिसमें पूर्ण आनन्द ही है, वह मोक्ष का कारण क्यों न बने? शान्त मुद्रावाली श्री

वीतराग परमात्मा की प्रतिमा की, उनके नाम-ग्रहण पूर्वक की गई पूजा, प्रभु को अवश्य प्राप्त करवा देती है।

सेवक जैसे अपने स्वामी की मूर्ति द्वारा स्वामी की पूजा करके उसके द्वारा अपना कार्य सिद्ध करता है, वैसे ही परमात्मा की मूर्ति द्वारा परमात्मा की पूजा करने से पूजक भी महान् लाभ अवश्य प्राप्त कर सकता है। इसी कारण महापुरुषो ने श्री अरिहन्त परमात्मा आदि के चारो निक्षेप ससारी जीवो के लिए परम उपकारी और अत्यन्त लाभदायक बताये है। जिस वस्तु के भाव निक्षेप पर लोगो को सम्पूर्ण आदर हो, उनके नाम, स्थापना तथा गुणसमूह के स्मरण, दर्शन या श्रवण से अवश्य उस वस्तु के प्रति प्रेम और आदर मे वृद्धि होती है।

जिस पर प्यार है उसके नाम, मूर्ति या गुण को मान देने मे साक्षात् वस्तु को ही मान और आदर देने का अनुभव होता है।

किसी धनवान पिता ने परदेश से अपने पुत्र को पत्र द्वारा सूचना दी कि अमुक व्यक्ति को पाँच हजार रुपये दे देना। अब वह पुत्र उस पत्र को पिता का साक्षात् आदेश मानकर उस पर अमल करेगा या नही ? करेगा, ऐसा ही कहोगे तो वह आदेश, पत्र मे स्थापना रूप होने से स्थापना मानने लायक सिद्ध हो गई। यदि कहोगे कि पत्र मात्र से इस बात पर अमल नही करना तो ऐसा करने वाले पुत्र के लिए क्या कहा जाएगा। उसने पिता की आज्ञा का पालन किया या उल्लघन किया ? पालन नही, परन्तु उल्लघन ही कहा जाएगा। इस दृष्टि से श्री तीर्थंकर-गणधर-प्रणीत सूत्रो मे प्रतिपादित स्थापना निक्षेप

को मानने वाला स्वयं भगवान का ही आदर करने वाला बनता है तथा नहीं मानने वाला स्वयं भगवान का ही अपमान करने वाला बनता है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है।

अपने पूर्वजों के चित्र तथा फोटो आदि उनके सम्पूर्ण स्वरूप का बोध कराने वाले होने से उनके भाव निक्षेप की ओर आर्कर्षित करते है, इसमें कोई शंका नहीं है। पर बड़े व्यक्तियों के पूर्णस्वरूप का बोध नहीं कराने वाले उनके वस्त्र, आभूषण एवं पोषाक आदि देखने से भी उनके गुण याद हो आते है। यदि निर्जीव स्थापना निक्षेप सर्वथा निरर्थक हो तो पूर्वोक्त कार्यो में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न भाव आते है, वे नहीं आने चाहिए।

अतः सोचना चाहिए कि परम पूजनीय, परमोपकारी, आराध्यतम, अनन्तज्ञानी, देवाधिदेव श्री तीर्थंकर भगवान की शान्त, निर्विकार और ध्यानारूढ़ भव्यमूर्ति के दर्शन से श्री वीतरागदेव के गुणों का स्मरण अवश्य होता ही है तथा उनकी उस मूर्ति को मान देकर हम उनका विनय करते हैं—ऐसा अवश्य कहा जाता है। इतना ही नहीं, पर उनकी मूर्ति के वारम्वार दर्शन, पूजन और सेवन से उनके भाव निक्षेप ऊपर का आदर और प्रेम दिन प्रतिदिन अवश्य वढ़ता जाता है।

यदि वस्तु के भाव निक्षेप पर प्यार हो तो उसकी स्थापना आदि पर भी प्यार आता है। इसी तरह जिनके भाव निक्षेप पर द्वेष हो, उनके नाम, स्थापना आदि चारों निक्षेपों पर भी द्वेषवुद्धि आती है। साक्षात् शत्रु को देखकर जैसे वैरभाव पैदा होता है वैसे ही उसकी मूर्ति को देखकर या नाम आदि सुनने से भी द्वेषभाव अवश्य प्रकट होता है।

जो तीर्थंकरो के भावनिक्षेप पर भक्ति रखते है तथा उनकी मूर्ति पर द्वेष—उनसे पूछें कि तुम्हारी मान्यता के अनुसार तो तुम्हारे मित्र आदि को साक्षात् देखकर तो तुम्हे प्रेम होना चाहिए परन्तु उनकी मूर्ति तथा नाम आदि देखकर और सुनकर प्रेम नही होना चाहिए परन्तु द्वेष पैदा होना चाहिए अथवा साक्षात् शत्रु से मुलाकात होते ही चित्त मे क्रोधाग्नि प्रकट होनी चाहिए, परन्तु उसकी स्थापना तथा नाम से द्वेष उत्पन्न नही होना चाहिए किन्तु आनन्द उत्पन्न होना चाहिए। पर ऐसा विपरीत क्रम किसी भी स्थान पर देखने मे नही आता।

कभी ऐसा कहा जाय कि शत्रु एव मित्र दोनो मे समभाव रखना चाहिए, किन्तु रागद्वेष नही करना चाहिए परन्तु ऐसा कथन केवल कहने मात्र का है। बडे-बडे योगीश्वर भी जब तक घाती कर्मों के योग से मुक्त नही हो जाते, तब तक रागद्वेष से पूर्णतया नही छूट सकते तो ससार के अनेक जजालो के मोह मे फँसे गृहस्थ, रागद्वेष रहित समभाववाली अवस्था मे रह सकते हैं, ऐसा कहना या मानना केवल आत्मवचना है। एक ओर केवल श्री तीर्थंकरदेव के भावनिक्षेप पर ही प्रेम रखने की बात करना तथा दूसरी ओर समभाव मे रहने की बात करना इसमे प्रत्यक्ष मृषावाद है। भावनिक्षेप पर राग परन्तु मूर्ति पर द्वेष, यह राग-द्वेष रहित स्थिति का लक्षण कैसे माना जा सकता है। एक निक्षेप पर द्वेष रखने से दूसरे निक्षेप पर भी द्वेष स्वत ही सिद्ध हो जाता है। स्थापना निक्षेप पर द्वेष रखकर भाव-निक्षेप पर प्रेम रखने की बात करना, यह आत्मवचना के सिवाय और कुछ नही है।

जो व्यक्ति प्रत्यक्ष मे विद्यमान न हो तो उस व्यक्ति पर शुद्ध

भाव पैदा करने के लिए उसकी स्थापना की भक्ति को छोड़कर अन्य कोई सरल उपाय नहीं है। बिना स्थापना के अविद्यमान वस्तु के प्रति शुद्ध भाव प्रकट किया ही नही जा सकता। चारों निक्षेपों का इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा निक्षेप रह ही नही सकता।

स्थापना का अनादर करने वाले से पूछा जाय कि वर्तमान में जो नोटों का चलन है ऐसे एक हजार रुपये का एक चैक अथवा ड्राफ्ट यदि तुम्हारे पास हो तो उसे तुम हजार रुपये मानते हो या कागज का टुकड़ा। यदि कहोगे कि 'हम तो उसे कागज के टुकड़े के समान मानते है तो उसे साधारण कागज के टुकड़े की तरह एक-दो पैसे में या मुफ्त में दूसरे को क्यों नही देते?' उसके उत्तर में कहोगे कि ऐसा मूर्ख कौन होगा जो हजार रुपये को एक पैसे में या मुफ्त में दे दे? तो फिर जरा सोचना चाहिए कि जैसे एक हजार रुपये की अनुपस्थिति में उतनी रकम का काम एक चैक अथवा ड्राफ्ट से निकाला जा सकता है, वैसे ही श्री जिनेश्वरदेव की अनुपस्थिति में उनकी मूर्ति द्वारा भी साक्षात् भगवान को पूजने का फल अवश्य प्राप्त किया जा सकता है।

३. द्रव्य निक्षेप

जो वस्तु भूतकाल में अथवा भविष्यत् काल में किसी कार्य के कारण रूप में निश्चित हो, उस कारणभूत वस्तु में कार्य का आरोपण करना, द्रव्य निक्षेप है। जैसे मृत साधु में तथा किसी साधु होने वाले गृहस्थ में, वर्तमान में साधुपना न होते हुए भी साधुपने का आरोप कर उसको साधु कहा जाता है, यह द्रव्य-निक्षेप के आश्रय से साधु है और इसी कारण साधु होने से पूर्व, साधु होने वाले को द्रव्य साधु मानकर उसकी दीक्षा का

महोत्सव बडी धूमधाम से मनाया जाता है तथा साधु के मृत शरीर की दाह-क्रिया के समय उसे पालकी मे बिठाकर, पैसे उछालते हुए बडे ठाट-बाट से ले जाया जाता है और लोग भी इनके दर्शन के लिये दौड-दौड कर आते है।

श्री तीर्थंकरदेवो के जन्म तथा निर्वाण के समय वन्दन, नमस्कार करने का पाठ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि शास्त्रो मे है तो वह नमस्कार श्री तीर्थंकरदेव के द्रव्य निक्षेप को हुआ गिना जाता है न कि भावनिक्षेप को, क्योकि जब तक केवलज्ञान नही हो, तब तक भावनिक्षेप नही कहलाता। भगवान् श्री ऋषभदेव स्वामी के जन्म समय शक्रेन्द्र के नमस्कार करने का उल्लेख श्री जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति मे बताया हुआ है तथा उसी सूत्र मे कहा है कि शक्रेन्द्र ने श्री हरिणगमेषी देव के द्वारा अपने हित एव सुख के लिए श्री तीर्थंकरदेव का जन्ममहोत्सव करने हेतु वहाँ जाने का अपना अभिप्राय देवताओ को बताया था।

यह सुनकर मन मे प्रसन्न होकर कई देवता वन्दन करने, कई पूजा करने, कई सत्कार करने, कई सम्मान करने, कई कौतुक देखने, कई जिनेश्वरदेव के प्रति भक्तिराग निमित्त, कई शक्रेन्द्र के वचनपालन के लिए, कई मित्रो की प्रेरणा से, कई देवियो के कहने से, कई अपना आचार समझकर (जैसे कि सम्यग्दृष्टि देवो को श्री जिनेश्वरदेव के जन्म-महोत्सव मे अवश्य भाग लेना चाहिए) इत्यादि कारणो को अपने चित्त मे स्थापन कर बहुत से देवी-देवता शक्रेन्द्र के पास आये। यदि द्रव्यनिक्षेप अपूजनीय अथवा निरर्थक होता तो सूत्र मे पूजा के लिए तथा भक्ति के निमित्त आदि शब्द वन्दना के अधिकार मे कदापि नही आते।

ऐसे ही श्री ऋषभदेव स्वामी के निर्वाण के समय भी शक्रेन्द्र

का आसन कम्पायमान होने पर अवधिज्ञान से भगवान का निर्वाण समय जानकर शक्रेन्द्र ने भगवान को वन्दन नमस्कार किया तथा सर्व सामग्री सहित श्री अष्टापद तीर्थ पर, जहाँ भगवान का शरीर था, आकर उदासीनतापूर्वक अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्री तीर्थकरदेव के शरीर की तीन प्रदक्षिणा दी। मृतक के योग्य सारी विधि की, इत्यादि शास्त्रप्रमाण भी द्रव्यनिक्षेप की वन्दनीयता को सिद्ध करते है।

इसके अतिरिक्त दूसरी तरह से भी द्रव्यनिक्षेप और उसकी पूजनीयता की सिद्धि होती है। श्री ऋषभदेव स्वामी के समय मे तथा वर्तमान काल में आवश्यक क्रिया करते समय साधु-श्रावक तमाम चतुर्विंशति स्तव (यानी लोगस्स सूत्र) का पाठ बोलते है।

श्री ऋषभदेव स्वामी के समय में, शेष तेईस तीर्थकरों के जीव, चौरासी लाख जीवयोनि मे भटकते थे इसलिये उनको उस समय किया हुआ नमस्कार भावनिक्षेप से किया हुआ नहीं गिना जा सकता किन्तु द्रव्यनिक्षेप से ही किया हुआ गिना जाता है। वर्तमान काल में तो इनमें से एक भी भावनिक्षेप में नहीं है क्योकि सभी सिद्धगति में गये होने से भावनिक्षेप में अरिहन्त रूप में नही परन्तु सिद्ध रूप में ही बिराजमान है। जो एक भावनिक्षेप को मानकर दूसरे नाम, स्थापना व द्रव्यनिक्षेप को मानने का निषेध होता तो 'लोगस्स' द्वारा किसको नमस्कार किया जाय ?

लोगस्स में प्रकट रूप से **अरिहंते कित्तइस्सं** और **चउवीसंपि केवली** कहकर चौबीसों तीर्थकरों को याद किया है। तीर्थकरों का यह स्मरण भावनिक्षेप से है ही नहीं, परन्तु नाम तथा द्रव्य-निक्षेप से ही मानने का है। जो इन दो निक्षेपों को मानने के

लिए तैयार नही, उनके मत से 'लोगस्स' को मानने का रहता ही नही तथा 'लोगस्स' नही मानने से आज्ञाभग का महादोष लगे बिना भी नही रहता।

पुन साधु-साध्वी के प्रतिक्रमणसूत्र मे भी कहा है कि श्री ऋषभदेवस्वामी से श्री महावीरस्वामी तक चौबीसो तीर्थंकरो को नमस्कार हो।

इसमे भी इन नामो के तीर्थंकर भावनिक्षेप से वर्तमान मे कोई नही है, पर द्रव्यनिक्षेप से हैं। द्रव्यनिक्षेप नही मानने वाले को प्रतिक्रमण भी आवश्यक मानने का नही रहता और इससे भी आज्ञाभग का महादोष लगता है।

भावनिक्षेप का विषय अमूर्त होने से अतिशय ज्ञानियो के सिवाय अन्य कोई भी इसे साक्षात् पहचान व समझ नही सकते है। इसी कारण श्री जैनसिद्धान्त मे सम्पूर्ण क्रियाओ का—नैगम, सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र इन चार द्रव्यप्रधान नयो की मुख्यता मे ही वर्णन किया गया है। द्रव्य निक्षेप की प्रधानता यानी क्रियाओ को यदि व्यर्थ माना जाता है, तो जैनमत का लोप ही हो जाता है।

जैनसिद्धान्त को मानने वालो को द्रव्यार्थिक चारो नयो को मान्य रखकर द्रव्य-क्रिया का आदर करना उचित है। द्रव्य-निक्षेप की प्रधानता वाली क्रियाएँ परिणाम की धारा को बढाने वाली हैं जिससे भाव का परिपूर्ण निश्चय हुए बिना भी व्रत-पच्चक्खाण आदि कराने की रीति श्री जैनशासन मे चल रही है। श्री अनुयोगद्वार, श्री ठाणाग, श्री भगवतीजी तथा श्री सूत्रकृताग आदि अनेक सूत्रो मे द्रव्यनिक्षेप की सिद्धि की हुई है और इस बात

को सप्रमाण साबित कर दिया है कि द्रव्य के बिना भाव कदापि सम्भव नहीं है।

परोपकारी महोपाध्याय श्री **यशोविजयजी महाराज** ने स्वोपज्ञवृत्ति सहित रचे हुए **श्री 'प्रतिमाशतक'** महाग्रन्थ में फरमाया है कि—

नामादित्रयमेव भावभगवत्ताद्रूप्यधीकारणम् ।
शास्त्रात्स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः ।
तेनार्हत्प्रतिमामनादृतवतां, भावं पुरस्कुर्वता,—
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः ? ॥ १ ॥

भाव-भगवन्त की तद्रूपपने की बुद्धि का कारण—नाम, स्थापना और द्रव्य—ये तीन ही है। शुद्ध हृदयवालों को यह बात शास्त्रप्रमाण से तथा स्वानुभव के निश्चय से बारम्बार प्रतीत हो चुकी है। इस कारण श्री अरिहन्त परमात्मा की प्रतिमा का आदर किये बिना ही श्री अरिहन्त परमात्मा के भाव को आगे बढ़ाने वालों की बुद्धि, अन्धे व्यक्तियों के दर्पण में देखने की बुद्धि के समान हास्यास्पद है।

इससे भी यह सिद्ध होता है कि भगवान की भावावस्था अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय तथा मन के लिए अगोचर है। उसे इन्द्रिय तथा मानसगोचर करने के लिए उनका नाम, आकार तथा द्रव्य का आलम्बन, यही एक साधन है। नाम, आकार और द्रव्य की भक्ति को छोड़कर केवल भाव की भक्ति करना या होना असम्भव है।

४. भाव निक्षेप :

जिन-जिन नामवाली वस्तुओं में जो-जो क्रियाये सिद्ध है

उन-उन क्रियाओ मे वे-वे वस्तुएँ वर्तती हो तब वह भावनिक्षेप कहलाता है—जैसे कि उपयोग सहित आवश्यकक्रिया मे प्रवृत्त साधु भावनिक्षेप से आवश्यक गिना जाता है। प्रत्येक वस्तु का स्वरूप इस प्रकार चारो निक्षेपो से जाना जा सकता है। उनमे से यदि एक भी निक्षेप अमान्य हो तो वह वस्तु, वस्तु के रूप मे टिकती ही नही।

जिस वस्तु को जिस भाव से माना जाता है उसके चारो निक्षेप उसी भाव को प्रकट करते है। शुभ भाव वाली वस्तु के चारो निक्षेप शुभभाव को प्रकट करते ह। मित्रभाव वाली वस्तु के चारो निक्षेप मैत्रीभाव को उत्पन्न करते ह। कल्याणकारी वस्तु के चारो निक्षेप कल्याणभाव को पैदा करते है और अकल्याणकारी वस्तु के चारो निक्षेप अकल्याणभाव को पैदा करते हैं।

इस ससार मे सामान्य रूप से सारी वस्तुएँ हेय, ज्ञेय और उपादेय, इन तीनो मे से किसी एक भेद वाली होती है। उदाहरण स्वरूप—स्त्रीसग। साधुओ को स्त्रियो का साक्षात् सग निषिद्ध है। साक्षात् सग हेय है, अत स्त्रियो का नाम, आकार एव द्रव्य भी निषिद्ध हो जाता है। साधु पुरुषो के लिए स्त्रियो का भावनिक्षेप जिस प्रकार वर्जित है उसी प्रकार नामनिक्षेप से स्त्रीकथा का भी निषेध है, स्थापनानिक्षेप से स्त्री की चित्रित मूर्ति को देखने का भी निषेध है तथा द्रव्यनिक्षेप से स्त्री की पूर्वापर बाल्यावस्था तथा मृतावस्था आदि का स्पर्श भी निषिद्ध है। इस प्रकार हेय रूप वस्तु के चारो निक्षेप हेय रूप बनते है। केवल भावनिक्षेप को मानने वाले स्त्री के भावनिक्षेप को छोडकर शेष तीनो निक्षेपो का आदर कदापि नही कर सकते।

इस प्रकार ज्ञेय वस्तु के भावनिक्षेप जिस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति में निमित्त बन सकते है उसी प्रकार चारों निक्षेप ज्ञान-प्राप्ति में निमित्त वन सकते है ।

जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, मेरु पर्वत, हाथी, घोड़ा आदि ज्ञेय वस्तुएँ है । उनको जिस प्रकार साक्षात् देखने से वोध होता है, उसी प्रकार उनके नाम आकार आदि देखने-सुनने से भी उन वस्तुओं का वोध होता है । हेय तथा ज्ञेय की भाँति उपादेय वस्तुएँ भी चारों निक्षेपों से उपादेय वनती है । श्री तीर्थंकर देव जगत् में परम उपादेय होने से उनके चारो निक्षेप भी परम उपादेय वन जाते है ।

समवसरण में विराजमान साक्षात् श्री तीर्थंकरदेव भाव-निक्षेप से पूजनीय है इसलिए 'महावीर' इत्यादि के नाम की भी लोग पूजा करते है । वैराग्य मुद्रा से युक्त ध्यानारूढ़ उनकी प्रतिमा को भी लोग पूजते है तथा द्रव्यनिक्षेप से उनकी वाल्यावस्था की पूर्व अवस्था तथा निर्वाणदशा की उत्तरअवस्था को भी इन्द्र आदि देव भक्तिभाव से नमन करते है, पूजा करते हैं तथा उसका सत्कार करते है । इसके विपरीत अन्य देवों का भावनिक्षेप त्याज्य होने से उनके शेष तीनों निक्षेप भी सम्यग्दृष्टि आत्माओं के लिए त्याज्य वन जाते है और इसी कारण आनन्द आदि दस श्रावकों ने वीतराग को छोड़कर अन्य देवों को वन्दन-नमस्कार नही करने की प्रतिज्ञा ली थी । उस समय वीतराग के सिवाय अन्य देव भावनिक्षेप से विद्यमान नही थे पर केवल उनकी मूर्तियाँ थी । अत: आनन्दादिक श्रावकों की नमन नही करने की प्रतिज्ञा उनकी मूर्तियों को लक्ष्य करके ही थी, यह अपने आप सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार वीतराग के सिवाय अन्य देवों

की मूर्तियो को नमन करने का निषेध जिनमूर्ति को नमस्कार करने के विधान को अपने आप ही सिद्ध कर देता है।

यदि कोई रात्रिभोजन के त्याग के नियम को अगीकार करता है, तो दिन मे भोजन करने की उसकी बात स्वत ही सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार चारो निक्षेपो का परस्पर सम्बन्ध समझ लेने का है। उसमे विशेष बात यही है कि जिसके भाव-निक्षेप शुद्ध और वन्दनीय हैं उसके ही शेष निक्षेप वन्दनीय और पूजनीय हैं, दूसरो के नही।

इस पर से कोई ऐसा प्रश्न करे कि—'मरे हुए बैल को देखकर किसी को प्रतिबोध हो जाय तो क्या वह पूजनीय बन जाता है ?' तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि जिसका भावनिक्षेप वन्दन-पूजन योग्य है, उसी के शेष तीनो निक्षेपो की पूजा के लिए शास्त्रकार फरमाते है। साक्षात् बैल को किसी ने भी पूजा योग्य नही माना और इसीसे उसका नाम आदि भी पूजनीय नही होता है। राजा करकडू आदि प्रत्येकबुद्ध महर्षि ने प्रतिवृद्ध बैल को देखकर प्रतिबोध प्राप्त किया था, पर भाव बैल वन्दनीय नही होने से उनके प्रतिबोध मे कारणभूत बैल के नामादिक वन्दन करने योग्य नही गिने गए। □



11

आपके सवाल हमारे जवाब

(तात्त्विक-तार्किक-शास्त्रीय और बुद्धिगम्य प्रश्नों के उत्तर)

प्रश्न १—स्त्री का चित्र साधु को नहीं देखना चाहिए, ऐसा फरमान किस सूत्र में है?

उत्तर—श्रुतकेवली आचार्य भगवान **श्रीमद् शय्यंभवसूरि** महाराजा द्वारा रचित **श्री दशवैकालिक सूत्र** के आठवें अध्याय में फरमाया है कि—

जिसमें स्त्री की मूर्ति हो ऐसी चित्रवाली दीवार को नहीं देखना तथा अलंकारयुक्त अथवा अलंकाररहित स्त्री को भी नहीं देखना। अचानक दृष्टिपात हो जाय तो सूर्य को देखकर जिस प्रकार दृष्टि नीची कर ली जाती है, उसी प्रकार दृष्टि नीची कर लेनी चाहिए। स्त्री का चित्र देखकर मोह उत्पन्न होता है। इसलिए उसका जिस प्रकार निषेध किया गया है, उसी प्रकार वीतराग परमात्मा की प्रतिमा के दर्शन से वीतराग दशा का

साक्षात्कार होता है, अत वीतराग अवस्था की प्राप्ति के अभिलाषी को भी वीतराग परमात्मा के सदैव दर्शन आदि करने की आवश्यकता बतलाई गई है।

प्रश्न २—स्त्री की मूर्ति देखकर प्रत्येक को काम-विकार उत्पन्न होता दिखाई देता है, परन्तु प्रतिमा को देखकर वैराग्य-भाव सभी को उत्पन्न होता हो, ऐसा तो दिखाई नहीं देता है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—जिनको प्रतिमा पर द्वेष अथवा दुर्भाव है उनको वीतराग की मूर्ति देखने पर भी शुभभाव प्रकट होना कठिन है परन्तु जा लघुकर्मी जीव हैं उनको तो श्री वीतरागदेव की शान्त मुद्रा के दर्शन के साथ ही रोम-रोम मे प्रेम उमडे बिना नही रहता। मुनि की शान्त मूर्ति को देखकर भी किसी पापी आत्मा के मन मे जिस प्रकार भक्तिभाव उत्पन्न नही होता है, वैसे ही जिसको मूर्ति के प्रति द्वेष या दुर्भाव होता है, ऐसी आत्मा को मूर्ति के दर्शन से भी भक्तिभाव उत्पन्न नही हो, यह स्वाभाविक है। जगत् का सामान्य नियम तो ऐसा है कि गुणवान की मूर्ति देखकर उनके जैसे गुणो को प्राप्त करने की उत्कण्ठा हुए बिना नही रहती, पर उसमे भी अपवाद होते हैं।

श्री आचाराग सूत्र मे फरमाया है कि—

"जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा।"

अर्थात्—परिणाम की दृष्टि से जो आस्रव के कारण होते हैं, वे सवर के कारण बनते हैं तथा जो सवर के कारण होते है, वे आस्रव के कारण बनते हैं।

इलाचिपुत्र पाप के इरादे से घर से निकले थे तथापि उन्होंने परिणाम की विशुद्धता से बाँस की डोरी पर नाच करते समय केवलज्ञान प्राप्त किया था।

भरत चक्रवर्ती का काच के भुवन में रूप देखने जाना आस्रव का कारण था; पर मुद्रिका के गिरने से शुभ भावनाओं में आरूढ़ होते ही उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

इसी प्रकार साधु मुनिराज संवर एवं निर्जरा के कारण हैं, फिर भी उनको दुःख देने, उनका बुरा विचारने तथा उनकी निन्दा आदि करने से जीव अशुभ कर्म का आस्रव करता है, परन्तु इससे साधु मुनिराज की पूज्यता नष्ट नहीं हो जाती। साक्षात् भगवान श्री महावीरदेव को देखकर भी संगमदेव तथा ग्वाले आदि के अशुभ परिणाम हुए, इसमें कारण उनका अशुभ भाव ही है। एक कवि ने कहा है कि—

पत्रं नैव यदा करीरविटपे, दोषो वसन्तस्य किं,
उल्लूको न विलोकते यदि दिवा, सूर्यस्य किं दूषणम्।
वर्षा नैव पतन्ति चातकमुखे, मेघस्य किं दूषणं,
यद्भाग्यं विधिना ललाटलिखितं, दैवस्य किं दूषणम्॥

करीर के वृक्ष पर पत्ते नहीं आते, उसमें वसन्त ऋतु का क्या दोष? उल्लू को दिन में नहीं दिखाई देता तो इसमें सूर्य का क्या दोष? वर्षा की बूँदें चातक के मुख में नहीं गिरती तो इसमें मेघ का क्या दोष? तथा इसी प्रकार ललाट पर लिखे भाग्यानुसार फल भोगना पड़े तो इसमें दैव का भी क्या दोष माना जाय?

इसी प्रकार श्री देवाधिदेव की मूर्ति तो शुभ भाव का ही कारण है तथापि उनके द्वेषी, दुष्ट परिणामी तथा हीनभागी जीवो को भाव उत्पन्न न हो तो वास्तव मे उन्हीकी कम-नसीबी है। सूर्य के सामने कोई धूल डाले अथवा सुगन्धित पुष्प फेंके, दोनो फेंकने वाले की ओर ही लौटते हैं। अथवा कठोर दीवार पर कोई मणि या पत्थर फेंके तो वे वस्तुएँ फेंकने वाले की ओर ही वापिस आती हैं, अथवा चक्रवर्ती राजा की कोई निन्दा या स्तुति करे तो उससे उसका कुछ बिगडता-बनता नही, पर निन्दक स्वय दु ख का भागी बनता है एव प्रशसक स्वय उत्तम फल प्राप्त करता है।

दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो जिस प्रकार पथ्य-आहार लेने से खाने वाले को सुख मिलता है और अपथ्य भोजन करने से भोजन करने वाले को दु ख मिलता है, पर आहार मे काम मे ली हुई वस्तु को कुछ नही होता है, ठीक उसी प्रकार परमात्ममूर्ति की स्तुति, भक्ति अथवा निन्दा करने से अलिप्त ऐसे परमात्मा पर कुछ भी असर नही होता है परन्तु निन्दक स्वय दुर्गतियोग्य कर्म उपार्जित करता है व पूजक शुभ कर्म का उपार्जन कर स्वय सद्गति का पात्र बनता है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि ब्रह्मचारी महात्माओ को स्त्री की मूर्ति देखने का निषेध किया है परन्तु साक्षात् स्त्री के हाथ से आहार-पानी लेने का निषेध नही किया। स्त्रियाँ दर्शन-वन्दन करने आवें, घटो तक व्याख्यान सुनने बैठी रहें, धर्म-चर्चा सम्बन्धी शका-समाधान अथवा वार्तालाप करें, आदि कार्यो मे स्त्री का साक्षात् परिचय होते हुए भी निषेध नही किया, पर

में गुरु की स्थापना करने के विषय में निम्नलिखित गाथा द्वारा फरमाते हैं—

गुरुविरहंमि ठवणा गुरुवएसोवदंसरणत्थं च ।
जिणविरहंमि जिणबिंबसेवणामंतणं सहलं ।। १ ।।

श्री ठाणांग सूत्र में भी दस प्रकार की स्थापना बताई है। उसकी स्थापना कर **'पंचिंदिय'** सूत्र से उसमें गुरु महाराज के गुणों का आरोपण कर उसके आगे धर्मक्रिया करना उचित है। स्थापना में मुख्य स्थापना 'अक्ष' की करते हैं। वह तीन, पाँच, सात या नौ आवर्त वाला हो तो उत्तम गिना जाता है। उसका फल **श्री भद्रबाहुस्वामी** कृत **'स्थापना कुलक'** में विस्तार से बताया गया है। **उपाध्याय श्री यशोविजयजी** महाराज ने भी स्थापना की सज्झाय बतलाई है। उसमें भी इसका फल तथा विधि बताई है।

पूर्वोक्त 'अक्ष' का योग न बने तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र के उपकरण जैसे कि पुस्तक, नवकारवाली आदि में स्थापना करने का विधान किया हुआ है।

आवश्यक धर्मक्रियाओं में स्थान-स्थान पर गुरु महाराज की आज्ञा मांगनी पड़ती है तो वह क्रिया करते समय साक्षात् गुरु न होने की स्थिति में उनकी स्थापना बिना कैसे काम चल सकता है ?

श्री समवायांग सूत्र में बारहवें समवाय में गुरुवन्दन के पच्चीस बोल पूरे करने का आदेश है। उसका पाठ निम्नांकित है—**दुवालसावत्ते किइकम्मे पन्नते, तं जहा।**

दुग्रोणय जहाजाय किंत्तिकम्म वारसावय ।
चउसिर तिगुत्त, दुप्पवेस एगनिक्खमणं ।। १ ।।

अर्थात् वन्दन क्रिया मे वारह आवर्त्त फरमाए है, वे इस प्रकार हैं अवनत अर्थात् दो वार मस्तक झुकाना और एक यथाजात अर्थात् जन्म तथा दीक्षा ग्रहण करते समय की मुद्रा धारण करनी। वारह आवर्त्त अर्थात् प्रथम के प्रवेश मे छह तथा दूसरे प्रवेश मे छह। ये 'अहो काय कायसफास।' आदि पाठ से करना चाहिए।

चार वार सिर अर्थात् पहले तथा दूसरे प्रवेश मे दो-दो वार सिर झुकाना, त्रि गुप्त अर्थात् मन-वचन-काया इन तीनो से वन्दना सिवाय दूसरा कार्य न करना, दो प्रवेश अर्थात् गुरुमहाराज की सीमा मे प्रवेश करना और एक निष्क्रमण अर्थात् गुरुमहाराज की सीमा मे प्रवेश रूप अवग्रह से वाहर निकलना, इस प्रकार कुल पच्चीस बोल हुए, उसमे गुरुमहाराज की हद मे दो वार प्रवेश करना और एक वार निकलना यह प्रत्यक्ष गुरु के अभाव मे उनकी स्थापना विना किस प्रकार सम्भव है?

वन्दन के पाठ मे गुरुमहाराज की आज्ञा मागकर भीतर प्रवेश करने की स्पष्ट आज्ञा है, जैसे कि—

"इच्छामि खमासमणो वदिउ जावणिज्जाए निसीहिआए अणुजाणह मे मिउग्गह निसीहि अहो काय कायसफास खमणिज्जो मे किलामो।"

अर्थात्—मेरी यह इच्छा है कि हे क्षमाश्रमण! वन्दन

हेतु पाप-व्यापार से रहित शरीर की शक्ति से मित अवग्रह अर्थात् साढ़े तीन हाथ प्रमाण क्षेत्र मे प्रवेश करने की मुझे आज्ञा प्रदान करो। उस समय गुरु की आज्ञा लेकर शिष्य 'निसीहि' अर्थात् गुरुवन्दन सिवाय अन्य क्रिया का निपेध कर अवग्रह में प्रवेश करे और दोनों हाथ मस्तक पर लगाकर गुरु के चरण स्पर्श करते हुए **'अहो कायं कायसंफासं।'** आदि पाठ कहे, जिसका अर्थ **है**—'हे भगवन्त! आपकी अधोकाया अर्थात् चरण-कमल को मेरी उत्तम काया अर्थात् मस्तक द्वारा स्पर्श करते समय आपको जो कष्ट पहुँचाया हो उसे क्षमा करो।'

इस प्रकार अनेक स्थानों पर गुरु महाराज की आज्ञा मांग कर क्रिया करने की होती है। ऐसी क्रिया गुरु के अभाव में गुरु की स्थापना विना कैसे हो सकती है?

यदि कहोगे कि गुरु-अवस्था की आकृति की मन में कल्पना कर आज्ञा आदि मांगूंगा तब तो स्थापना निक्षेप का सहज रूप से स्वीकार हो गया। फिर मृत्यु उपरान्त अन्य गति में गये हुए गुरुओं को याद करके उनका गुणगान करने में आता है, तो उसको किस निक्षेप के अधीन समझेंगे? गुरुपने का भाव निक्षेप तो उस समय उपस्थित होता ही नही है। भावनिक्षेप से तो गुरु अन्य गति में है। इतना होने पर भी 'गुरुपने की पूर्ण अवस्था की मन में कल्पना करके गुणगान आदि करने में आता है,' ऐसा कहने से स्थापना निक्षेप एवं द्रव्य निक्षेप दोनों का सहज स्वीकार हो जाता है।

प्रश्न ४—श्री ऋषभदेव स्वामी के समय मे शेष तेईस तीर्थंकरो के जीव ससार मे थे, फिर भी उस समय उनको वन्दन करने मे धर्म कैसे हो सकता है ?

उत्तर—श्री ऋषभदेव स्वामी के समय मे अन्य तेईस तीर्थंकरो के वन्दन का विषय द्रव्यनिक्षेप के आधीन है। द्रव्य बिना भाव, स्थापना अथवा नाम कुछ भी नही हो सकता। श्री ऋषभदेव स्वामी ने जिन जीवो को मोक्षगामी बताया, वे सभी पूजनीय है।

जिस प्रकार धनाढ्य साहूकार के हाथ से लिखी हुई, उसके हस्ताक्षर व मोहर वाली, अवधि विशेष की हुडी हो तो उसकी अवधि पूर्ण होने के पूर्व भी रकम से काम निकाला जा सकता है, उसी प्रकार मोक्षगामी भव्य जीवो की ऋषभदेव स्वामी द्वारा दी हुई विश्वस्तता रूपी हुडी को कौनसा विचारशील व्यक्ति अस्वीकार करेगा ?

भगवान के वचन-विश्वास रूपी प्रबल कारण को लेकर बाकी के तेईस तीर्थंकर, प्रथम तीर्थंकर के समय मे भी वन्दनीय थे। इस सम्बन्ध मे श्री आवश्यक सूत्र मे मूल पाठ भी है कि—

'चत्तारि-अट्ठ-दस-दोय, वदिआ जिणवरा चउव्वीस।'

अर्थात्—चारो दिशाओ मे क्रम से चार, आठ, दस और दो इस प्रकार चौवीस तीर्थंकरो के बिम्ब श्री भरत महाराजा ने अष्टापद पर्वत पर स्थापित किये हैं। इस विषय मे निर्युक्ति-कार श्रुतकेवली आचार्य भगवान श्रीमद् भद्रबाहुस्वामीजी

महाराज ने समाधान किया है कि भरत राजा ने श्री ऋषभदेव स्वामी को भावी में होने वाले तेवीस तीर्थंकरों के नाम, लक्षण, वर्ण, शरीर का प्रमाण आदि पूछकर उसी के अनुसार, अष्टापद गिरि पर श्री जिनमन्दिर बनाकर सभी तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ ठीक वैसे ही आकार की स्थापित की थीं।

इससे सिद्ध होता है कि तेईस तीर्थंकरों के होने से पूर्व भी उनकी पूजा तथा मूर्ति तथा मन्दिर द्वारा उनकी भक्ति करने की प्रथा सनातन काल से चली आ रही है और इसे महान् ज्ञानी पुरुषों ने स्वीकार भी किया है।

प्रश्न ५—'सिद्धायतन' शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर 'सिद्धायतन' गुणनिष्पन्न नाम है। इसका अर्थ जिनमन्दिर होता है। 'सिद्ध' अर्थात् सिद्ध भगवान की प्रतिमा और 'आयतन' अर्थात् घर। अर्थात् जिनघर या जिनमन्दिर वैताढ्यपर्वत, चुल्लहिमवंत पर्वत, मेरु पर्वत, श्री मानुषोत्तर पर्वत, श्री नन्दीश्वर द्वीप, श्री रुचक द्वीप आदि पर्वत तथा द्वीपों पर अनेक शाश्वत जिनमूर्तियों वाले मन्दिरों के होने का प्रमाण **श्री जीवाभिगम** तथा **श्री भगवती** आदि सूत्रों में स्पष्ट बताया है और उन सूत्रों को तमाम जैन मानते है।

प्रश्न ६—कई लोग श्री जिनप्रतिमा से जिनबिम्ब नहीं लेकर, श्री वीतरागदेव के नमूने के समान साधु को ग्रहण करते हैं, क्या यह उचित है ?

उत्तर—उनकी यह मान्यता झूठी एवं कल्पित है। सूत्रों में स्थान-स्थान पर श्री जिनप्रतिमा, जिनवर तुल्य कही गई है।

श्री जीवाभिगम आदि सूत्रो मे जहाँ-जहाँ शाश्वती प्रतिमा का अधिकार है वहाँ-वहाँ 'सिद्धायतन' अर्थात् 'सिद्ध भगवान का मन्दिर कहा है। परन्तु 'मूर्ति-आयतन' अथवा 'प्रतिमा-आयतन' नही कहा है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि श्री सिद्ध की प्रतिमा सिद्ध के समान है।

श्री रायपसेणी सूत्र तथा श्री जीवाभिगम सूत्र मे श्री सूर्याभ देवता तथा श्री विजयपोलीआ की द्रव्यपूजा का अधिकार "धूव दाऊण जिणवराण" अर्थात् 'श्री जिनेश्वरदेव को धूप करके' कहा है। इससे भी श्री जिनप्रतिमा जिनवर समान मानी गई है, यह सिद्ध होता है।

पुन श्री रायपसेणी, श्री दशाश्रुतस्कन्ध और श्री उववाई आदि अनेक सूत्रो मे तीर्थंकर को वन्दन के लिए जाते समय श्रावको के अधिकार मे कहा है कि—'देवय चेइय पज्जुवासामि' अर्थात् देवसम्बन्धी चैत्य अर्थात् श्री जिनप्रतिमा, उनके सामने मैं पर्युपासना करूगा। ऐसे अनेक स्थलो पर भाव तीर्थंकर तथा स्थापना तीर्थंकर की एक समान पर्युपासना करने का पाठ है, जिससे दोनो मे कोई अन्तर नही है।

भाव या स्थापना दोनो मे से किसी की भी भक्ति और पूजा जिस भाव से की जाती है, तदनुसार फल की प्राप्ति होती है।

श्री ज्ञातासूत्र मे द्रौपदी के पूजन के अधिकार मे श्री 'जिन-मन्दिर' को श्री 'जिनगृह' कहा है पर 'मूर्ति-गृह' नहीं कहा। इस पर से भी श्री जिनमूर्ति को ही जिन की उपमा घटती है न कि साधु को। साधु वस्त्र, पात्र, रजोहरण और मुहपत्ति आदि

उपकरण सहित है जबकि भगवान के पास इनमें से कुछ भी नहीं होता। भगवान रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठते है, उनके दोनों ओर चँवर ढाले जाते है, पीछे भामण्डल रहता है, आगे देवदुन्दुभि बजती है, देवता पुष्पवृष्टि करते है इत्यादि अतिशयों से युक्त भगवान होते है। साधु के पास इनमें से कुछ भी नही होता है। तब फिर साधु की श्री वीतराग से तुलना कैसे कर सकते हैं?

पर्यंकासन पर विराजमान सौम्य दृष्टि वाली वीतराग अवस्था की प्रतिमा तो श्री अरिहन्त भगवान के तुल्य है। वीतराग की मूर्ति को वीतराग का नमूना कहा जाता है, साधु का नही। साधु के नमूने को ही साधु कहा जाता है। **श्री अंतगडदशा** सूत्र मे कहा है कि 'हरिणगमेषी की प्रतिमा की आराधना करने से वह देव आराध्य बन गया' इसी प्रकार श्री वीतराग की मूर्ति की आराधना करने से श्री वीतरागदेव आराध्य बन जाते हैं।

प्रश्न ७—श्री जिनप्रतिमा को जिनराज समझकर नमस्कार करो तो वह नमस्कार मूर्ति को हुआ, भगवान को नहीं, क्योंकि भगवान तो मूर्ति से भिन्न हैं। मूर्ति को नमस्कार करने से भगवान को नमस्कार नहीं होता और भगवान को नमस्कार करने से मूर्ति को नमस्कार नहीं होता। इसका क्या समाधान है?

उत्तर—मूर्ति और भगवान सर्वथा भिन्न नही है। इन दोनों में कुछ समानता है। श्री जिनमूर्ति को नमस्कार करते समय श्री जिनेश्वर भगवान का भाव लाकर नमस्कार किया जाता है अत: दोनों भिन्न नही कहे जाते।

जैसे यहाँ बैठे महाविदेहक्षेत्र मे विराजमान श्री सीमन्धर स्वामी को सभी जैन वन्दन-नमस्कार करते हैं, तब राह मे लाखो घर, वृक्ष, पर्वत आदि अनेक वस्तुएँ बीच मे आती है तो नमस्कार उन वस्तुओ को हुआ या श्री सीमन्धर स्वामी को ? यदि कहोगे कि नमस्कार करने का भाव भगवान को होने से भगवान को ही नमस्कार हुआ, अन्य वस्तु को नही, तथा केवलज्ञान से भगवान भी उस वन्दना को इसी रीति से जानते हैं, उसी तरह मूर्ति द्वारा भी भगवान का भाव लाकर वन्दन-पूजन करने मे आए तो उसे क्या भगवान नही जानते ?

इसी तरह साधु को वन्दन-नमस्कार करते हुए भी उनके शरीर को वन्दन होता है या उनके जीवन को ? यदि शरीर को नमस्कार किया जाता हो तो जीव तो शरीर से पृथक् वस्तु है और जो जीव को नमस्कार करने मे आता हो तो बीच मे काया का अवरोध उपस्थित है और काया जीव से भिन्न पुद्गल द्रव्य है।

यदि कहोगे कि यह पुद्गलद्रव्य साधु का ही है तो फिर मूर्ति भी देवाधिदेव श्री वीतराग प्रभु की है, ऐसा क्यो नही सोच सकते हो ? मुनि की काया को वन्दन करने से जैसे मुनि को वन्दन होता है वैसे ही श्री वीतराग प्रभु की मूर्ति को वन्दन करने से साक्षात् श्री वीतराग प्रभु को ही वन्दन होता है।

प्रश्न ८—निराकार भगवान की उपासना ध्यान द्वारा हो सकती है तो फिर मूर्तिपूजा मानने का क्या कारण ?

उत्तर—मनुष्य के मन मे यह ताकत नही कि वह निराकार का ध्यान कर सके। इन्द्रियो से ग्राह्य वस्तुओ का विचार मन

कर सकता है। उसके अतिरिक्त वस्तुओं की कल्पना मन में नहीं आ सकती।

जो-जो रंग देखने में आते है, जिन-जिन वस्तुओं का स्वाद लिया जाता है, जिन-जिन वस्तुओं का स्पर्श किया जाता है, जो गन्ध सूंघने में आती है अथवा जो शव्द सुनने में आते है, उतने तक का ही विचार मन कर सकता है, उनके अतिरिक्त रंग, रूप अथवा गन्ध आदि का ध्यान, स्मरण अथवा कल्पना करना मनुष्य की शक्ति के वाहर की वात है।

यदि किसी ने 'पूर्णचन्द्र' नाम के व्यक्ति का केवल नाम सुना हो, उसे आँखों से देखा भी न हो और न कभी उसका चित्र देखा हो तो क्या नाम मात्र से 'पूर्णचन्द्र' नाम के व्यक्ति का ध्यान आ सकता है? नहीं। उसी प्रकार भगवान को साक्षात् अथवा मूर्ति द्वारा जिसने देखा नही हो, वह उनका ध्यान किस प्रकार कर सकता है?

जव-जब ध्यान करना होता है तव-तव कोई-न-कोई वस्तु नजर सम्मुख रखनी ही होती है। भगवान को ज्योतिस्वरूप मान कर उनका ध्यान करने वाला उस ज्योति को श्वेत, श्याम आदि किसी न किसी रंग वाली मानकर ही उसका ध्यान कर सकता है। सिद्ध भगवन्तों में ऐसा कोई भी पौद्गलिक रूप नही है, उनका रूप अपौद्गलिक है जिसे सर्वज्ञ केवलज्ञानी सिवाय अन्य कोई नहीं जान सकते है।

श्री सिद्धचक्र यंत्र में श्री सिद्ध भगवन्तों की लाल रंग की कल्पना की गई है, परन्तु वह केवल ध्यान की सुविधा की दृष्टि

से है, वास्तविक नही। निराकार सिद्ध का ध्यान अतिशय-ज्ञानी को छोडकर दूसरा कोई भी करने मे समर्थ नही है।

कोई कहेगा कि हम मन मे मानसिक मूर्ति की कल्पना कर, सिद्ध भगवान का ध्यान करेंगे परन्तु पत्थर जड मूर्ति को नही मानेंगे। उनका यह कथन भी विवेकशून्य है क्योंकि यदि उनसे पूछा जाय कि तुम्हारी मानसिक मूर्ति का रग कैसा है? लाल या श्वेत? तो वे क्या उत्तर देंगे? यदि वे कहे कि—'उसका रूप नही, रग नही या कोई वर्ण नही है अत किस प्रकार बताया जाए? तो उन्हे यह कहना चाहिये कि जिसका रूप, रग अथवा वर्ण नही उसका ध्यान करने की तुम्हारे मे शक्ति भी नहीं है।'

इस प्रकार प्रत्यक्ष मूर्ति को मानने की बात से छुटकारा पाने के लिए मानसिक मूर्ति मानने से अन्त मे ध्यानरहित दशा की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब मूर्ति के अभाव मे ध्यान बनता ही नही, तो प्रकट रूप मे मानने मे क्या आपत्ति है? मानसिक मूर्ति अदृश्य एव अस्थिर है जबकि प्रकट मूर्ति दृश्य एव स्थिर है और इसीलिए ध्यान आदि के लिए अनुकूल है।

साथ ही भगवान श्री तीर्थंकर देवता समवसरण मे भी पूर्व की ओर मुख कर बैठते हैं तथा शेष तीनो ओर देवतागण भगवान की तीन मूर्तियो की स्थापना करते हैं, ऐसा श्री समवसरण प्रकरण, श्री समवायाग सूत्रटीका, श्री तत्त्वार्थ सूत्रटीका आदि प्राचीन ग्रन्थ प्रमाणित करते हैं।

कई लोग यह कहते हैं कि 'भगवान के अधिक से अधिक चार मुख दिखाई देते हैं पर तीन ओर मूर्ति है, ऐसा नही है' यह

बात भी झूठी है। कारण यह है कि किसी भी शास्त्र में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है।

समवसरण की रचना से भी चित्त की एकाग्रता के लिए मूर्ति की आवश्यकता सिद्ध हो जाती है। भगवान की भव्य मूर्ति के दर्शन से उनके गुण याद आते ही श्रद्धालु लोगों को भगवान के साक्षात्कार जैसा आनन्द प्राप्त होता है तथा मूर्ति को साक्षात् भगवान समझ कर भावयुक्त भक्ति होती है। उस समय भक्ति करने वाले के मन के अध्यवसाय कितने निर्मल होते होंगे तथा उस समय वह जीव कैसे शुभ कर्मो का उपार्जन करता होगा, इसका सच्चा और पूरा ज्ञान सर्वज्ञ के सिवाय अन्य किसी के पास नही है।

जो लोग अपनी कल्पना से परमात्मा का मानसिक ध्यान करने का आडम्बर करते हैं, वे सैकड़ों अथवा हजारों कोस वाहन आदि में बैठकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों का नाश कर अपने गुरु आदि की वन्दना करने के लिए क्यों जाते होगे? क्या गुरु का मानसिक ध्यान घर बैठे शक्य नहीं है कि जिस कारण गुरु के मूर्तिमय शरीर की वन्दना हेतु, हिंसा करके हजारों कोस जाने की जरूरत पड़ती है।

सांसारिक जीव अनेक चिन्ताओं से ग्रस्त होते हैं। किसी आलम्बन के अभाव में उनको शुभध्यान की प्राप्ति होना आसान नहीं है। अस्थिर मन एवं चंचल इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना बच्चों का खेल नहीं है। किसी वाद्य यंत्र पर गाया हुआ गीत कानों में पड़ते ही चंचल मन उधर चला जाता है। उस समय ध्यान की बाते कहीं उड़ जाती है। ऐसी चंचल मनोवृत्ति वाले

लोगो के लिए श्री जिनपूजा मे लीन हो जाना, यही एक परम ध्यान है।

अनेक चिन्ताओ से युक्त गृहस्थाश्रम मे जिनपूजा का अनादर करना, केवल हानिकारक ही है। दुनियादारी की विविध झझटो मे फँसे हुए गृहस्थो के लिए मूर्ति के आलम्बन बिना मानसिक ध्यान होना सर्वथा असम्भव है। श्री जिनपूजा का आदर करके तथा मूर्ति के माध्यम से श्री जिनेश्वरदेव के गुणगान आदि करने से चचल मन स्थिर होता है तथा स्थिर हुए मन को ससार की असारता आदि का बोध सरलता से कराया जा सकता है। सुख-दु ख में जव तक सम-भाव नही आता है, तब तक बडे-वडे योगिराजो की तरह आलम्बन-रहित ध्यान की बातें करना व्यर्थ है। जिस समय वह समभाव वाली स्थिति आ जायेगी, आलम्बन स्वत ही छूट जाएगा।

श्री जैनधर्म के मर्मज्ञ पूर्वाचार्य महर्षियो ने प्रत्येक जीव को अपने गुणस्थानक अनुसार क्रिया अगीकार करने का आदेश दिया है। वर्तमान मे कोई भी जीव सातवे गुणस्थानक से आगे नही चढ सकता है। जीवन के भिन्न-भिन्न समय मे प्राप्त सातवे गुणस्थानक के कुल समय को जोडा जाय तो वह एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही बनता। इसलिये वर्तमान के जीवो को ऊँचे से ऊँचा छठे गुणस्थानक तक ही समझना चाहिए। वह गुणस्थानक प्रमादयुक्त होने से उसमे रहने वाले जीव भी निरालम्वन ध्यान करने मे असमर्थ है। ऐसा होने पर भी जो लोग छठे गुणस्थानक की सीमा को भी नही पहुँच पाये है तथा अनेक सासारिक प्रपचो मे गुँथे हुए है, वे निरालम्वन ध्यान की वातो का प्रदर्शन करते हैं, वह केवल आडम्बर है। चौथे,

पाँचवें गुणस्थानक में होने के नाते श्रावक, द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की पूजा करने के अधिकारी है, जबकि साधु उनसे ऊँचे स्थान अर्थात् छठे गुणस्थानक में होने से केवल भावपूजा के अधिकारी है ।

जिस प्रकार व्यावहारिक शिक्षा में पहले क, का आदि फिर बारहखड़ी, उसके बाद शास्त्राभ्यास, ऐसा क्रम है, उसी प्रकार गुणस्थानक की ऊँची दशा में चढ़ते समय क्रिया में भी परिवर्तन होता रहता है । सीढ़ियाँ छोड़कर एकदम छलाँग मारकर भवन के ऊपरी भाग पर चढने का अविवेक पूर्ण प्रयत्न करने से वह स्थान तो बहुत दूर रह जाता है, परन्तु इसके विपरीत नीचे गिरने से हाथ-पैर अवश्य टूट जाते है ।

अब यदि कोई प्रश्न करता है कि संसार पर राग कम किया और भगवान पर राग बढ़ाया तो इसमें भी राग तो कायम ही रहा । जब तक राग-द्वेष-रहित नहीं बनेंगे तब तक मुक्ति कैसे मिल सकती है ? यह प्रश्न भी नासमझी का है । पूर्ण रूप से राग रहित होने की शक्ति नही आवे तब तक प्रभु के प्रति राग रखने से संसार के अशुभ राग तथा उनसे बँधाते बुरे कर्मों से बचा जा सकता है । घर बैठे जितनी अनेक प्रकार की वैभाविक चर्चाएँ होती है उतनी जिनमन्दिर में नहीं हो सकतीं ।

प्रभु की शान्त मूर्ति के दर्शन से तथा उनके गुणगान में लीन होने से चित्त में दुष्ट भाव तथा बुरे विचार टिक नही सकते । इतना ही नहीं परन्तु उन्हें दूर हटाने का एक मुख्य साधन भी प्राप्त हो जाता है । जब तक पूर्ण विशुद्धि प्राप्त न हो, तब तक जीवन को उच्च मार्ग की ओर ले जाने का केवल

यही उत्कृष्ट पथ है। जो इस मार्ग मे विश्वास नही रखते तथा अपने आप को पूर्ण विशुद्ध मानकर समभाव-साधक मानते हैं, उन्हे यह पूछना चाहिए कि यदि तुम वास्तव मे राग-द्वेष से परे हो तो तुम अपने गुरु एव अन्य नेताओ का आदर कर उन पर राग क्यो करते हो ? उनके आहार, वस्त्र एव पात्रादि के प्रति सम्मान भाव क्यो रखते हो ? क्या यह राग रहित होने का प्रतीक है ? समभाव मे लीन व्यक्ति के लिए सदा सामायिक है, तो गुरु के पास जाकर सामायिक तथा प्रतिक्रमण आदि करने का क्या प्रयोजन है ?

स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओ के सयोग से हर्ष तथा उनके वियोग मे शोक, धन, माल, हाट आदि के नाश से सताप तथा उनकी प्राप्ति से हर्ष, वैसे ही किसी दुष्ट व्यक्ति के बुरे वचन कहने पर तथा कष्ट देने पर क्रोध तथा सम्मान देने पर आनन्द, ऐसी बातो मे राग-द्वेष तो प्रत्यक्ष प्रकट ही है। उनमे फिर कारण अथवा आलम्बन के बिना समता भाव पैदा करने की बात करना क्या ढोग नही है ? मेरा घर, मेरी स्त्री, मेरा धन, मेरा पुत्र, मेरा नौकर आदि मेरा-तेरा करने का जिनका स्वभाव निर्मूल नही हुआ, उनको समदृष्टि वाले कैसे कह सकते हैं ?

जो सम्पत्ति तथा विपत्ति मे, शत्रु एव मित्र मे, स्वर्ण और पत्थर मे तथा रत्न और तृणसमूह मे कोई भी भेद-भाव नही रखते, वे ही वास्तव मे समभावशाली, आत्मज्ञानी तथा उच्च-कोटि के साधक हैं। आज के युग मे ऐसे महान् व्यक्ति कितने हैं ? विश्व का बड़ा भाग दुनियादारी की झझटो मे फँसा हुआ है। उनके लिए 'अपने आपको आत्मज्ञानी' सिद्ध करने का

ढोंग रचना तथा उचित कार्य का अनादर करना योग्य नहीं है। बिना योग्यता मिथ्याभिमान रखने से किसी भी स्वार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। इन्द्रियों तथा मन पर काबू पाये बिना निरालम्बन ध्यान की बातें करने वालों के लिए शास्त्रकार कहते हैं—

"जो व्यक्ति इन्द्रियों को वश में किये बिना ही शुभ ध्यान रखने की इच्छा करता है, वह मूर्ख जलती हुई आग के अभाव में रसोई पकाना चाहता है, जहाज को छोड़कर अगाध समुद्र को दोनों हाथों से तैरकर पार करने की तथा बीज बोये बिना ही खेत में अनाज उत्पन्न करने की इच्छा करता है।"

प्रश्न ६—मूर्ति तो एकेन्द्रिय पाषाण की होने से प्रथम गुणस्थानक पर है। उसका चौथे-पाँचवें गुणस्थानक वाले श्रावक तथा छठे-सातवें गुणस्थानक वाले साधु किस प्रकार वंदन-पूजन कर सकते हैं?

उत्तर—प्रथम तो मूर्ति को एकेन्द्रिय कहने वाला व्यक्ति जैन शास्त्रों से अनभिज्ञ ही है। खान में से खोदकर अलग निकाला हुआ पत्थर शस्त्रादि लगने से सचित्त नहीं रहता, ऐसा शास्त्रकार कहते है। अचेतन वस्तु में गुणस्थानक नहीं होता है। अब यदि गुणस्थानक रहित वस्तु को मानने से इन्कार करोगे, तो महादोष के भागी बनोगे क्योंकि सिद्ध भगवान सर्वथा गुणस्थानक रहित है, फिर भी श्री अरिहन्तदेव के पश्चात् सबसे प्रथम स्थान पर पूजने योग्य है। गुणस्थानक संसारी जीवों के लिए हैं, सिद्धों के लिए नही।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार मूर्ति को गुणस्थानक नहीं

है, उसी प्रकार कागज आदि से बनी पुस्तकों का भी अपना कोई गुणस्थानक नहीं है। फिर भी प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने ग्रन्थों का बहुत आदर करते है, ऊँचे आसन पर रखते हैं तथा मस्तक पर चढाते हैं। उसकी सभी प्रकार की आशातनाएँ वर्जित हैं। उनको थूक के छींटें या पैर से ठोकर लगाना भी महादोष रूप गिना जाता है। विश्व मे ऐसा कोई धर्म नही है जो अपने इष्टदेव की वाणी रूप शास्त्र को मस्तक पर नही चढाता हो तथा उसका खूब आदर-सम्मान नही करता हो।

श्री जैन सिद्धान्त के श्री भगवती सूत्र मे भी 'नमो बभीए लिवीए' कह कर श्री गणधर भगवन्तो ने अक्षर रूपी ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है तो इसमे कौनसा गुणस्थानक था ? मृतक साधु का शरीर भी अचेतन होने से गुणस्थानक रहित है, फिर भी लोग दूसरे काम छोडकर उनके दर्शन के लिये दौडकर जाते हैं, तथा उस मृत देह को बडी धूमधाम से चन्दन की चिता मे जलाते हैं। इस कार्य को गुरु-भक्ति का कार्य कहेगे या नही ? यदि इसे गुरु-भक्ति कह सकते है, तो प्रतिमा के वन्दन पूजन आदि को जिनभक्ति का कार्य क्यो नही कह सकते हैं ?

प्रश्न १०—मूर्ति तो पत्थर की है, उसकी पूजा से क्या फल मिलेगा ? मूर्ति के आगे की गई स्तुति, क्या मूर्ति सुन सकती है ?

उत्तर—लोगो को पथभ्रष्ट करने के लिए इस प्रकार के प्रश्न मूर्तिपूजा के विरोधीवर्ग की ओर से खडे करने मे आते हैं, परन्तु उनके पीछे घोर अज्ञान एव कुटिलता छिपी हुई है।

मूर्तिपूजक लोग यदि पत्थर को ही पूजते होते तो स्तुति भी वे पत्थर की ही करते कि 'हे पत्थर ! हे अमूल्य पत्थर ! तू

अनमोल तथा उपयोगी है। तेरी शोभा अपार है। तू विशेष खान में से निकला है। तुझे खान में से निकालने वाले कारीगर वहुत कुशल है। हम तेरी स्तुति करते है, पर इस प्रकार पत्थर के गुणगान कोई नहीं करता, परन्तु सभी लोग पत्थर की मूर्ति में आरोपित श्री वीतरागदेव की स्तुति करते ही नजर आते है। हे निरंजन! निराकार! निर्मोह! निराकांक्ष! अजर! अमर! अकलंक! सिद्धस्वरूपी! सर्वज्ञ! वीतराग! आदि गुणों द्वारा गुणवान परमात्मा की ही स्तुति करते हैं।

क्या पत्थर में ये गुण है कि जो पत्थर की उपासना का झूठा दोष लगाकर लोगों को गलत दिशा में ले जाने का प्रयास किया जा रहा है?

जव पूजक व्यक्ति मूर्ति में पूजा योग्य गुणों को आरोपित करता है, तव उसे मूर्ति साक्षात् वीतराग ही प्रतिभासित होती है। वह जिस भाव से मूर्ति को देखता है उसे वह वैसा ही फल देती है। साक्षात् भगवान तरण-तारण हैं, फिर भी उनकी आशातना करने वालों को बुरा फल मिलता है। उसी भाँति मूर्ति भी तारक है, उसकी आशातना करने वाले उसके बुरे फल भोगते है।

शंका—मूर्ति को भगवान कैसे माना जाय? क्या रूखी-सूखी रोटी को मिठाई मान लेने से वह मिठाई बन जाती है?

समाधान—सन्तोषी तथा शुभ परिणामी जीवों को तो जो सन्तोष मिठाई से प्राप्त हो सकता है, उतना ही सन्तोष रूखी रोटी से भी प्राप्त हो सकता है। दूसरी ओर असन्तोषी एवं अशुभ-परिणामी जीवों को तो मिठाई भी अधिक लाभ नहीं पहुँचाती है

तो रूखी रोटी से तो उनका क्या काम बनने वाला है ? दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि शुभपरिणामी जीव मूर्ति से भी साक्षात् भगवान के दर्शन जैसा ही लाभ उठा सकते हैं, जबकि दुष्ट परिणामी जीव साक्षात् परमात्मा के दर्शन से भी अशुभ कर्म बांधते हैं तथा अमृत को भी विष बना देते है।

दो घडी पूर्व के सामान्य साधु को आचार्यपद प्रदान करने के साथ ही अन्य साधु तथा श्रावक छत्तीस गुणो का आरोपण कर उनको वन्दन करते हैं तथा किसी भी व्यक्ति के पूर्व मे गृहस्थ होते हुए भी दीक्षा लेते ही उसमे साधु के सत्ताईस गुणो का आरोपण कर उनको वन्दन-नमस्कार किया जाता है। जिस प्रकार आरोपित अवस्था मे कोई आचार्य तथा साधु, क्रमश आचार्य तथा साधु के रूप मे पूजनीय बन जाता है, उसी प्रकार मूर्ति मे भी अजनशलाका और प्रतिष्ठा हो जाने के बाद उसमे अरिहन्त के समान पूजनीयता उत्पन्न हो जाती है।

'मूर्ति स्तुति को सुनती है या नही ?' यह प्रश्न ही अयोग्य है, क्योंकि पत्थर रूप मूर्ति के गुणगान करने मे नहीं आते हैं। जिसकी वह मूर्ति है, उस देव की स्तुति तथा प्रार्थना की जाती है। वह देव ज्ञानी होने के नाते सेवक की स्तुति आदि को पूरी तरह जान सकते हैं। अत मूर्ति के सामने स्तुति करना भी उचित है।

प्रश्न ११—श्री जिनप्रतिमा को यदि कोई अन्य धर्मावलम्बी अपने मन्दिर मे स्थापित करे तो वह वन्दनीय गिनी जाएगी या नहीं ?

उत्तर—अन्य मत वालो द्वारा ग्रहण की हुई तथा उनके द्वारा

देवस्वरूप में स्वीकार की गई श्री जिनमूर्ति को श्रावक नहीं नमेगा क्योंकि वे लोग उस मूर्ति को अपने इष्टदेव के रूप में मान कर अपने मन की विधि के अनुसार उसकी पूजा करेंगे तथा वह विधि जैनो को मान्य नहीं होगी; अतः जहाँ विधिवत् पूजा नही होती हो ऐसी अन्यमतावलम्बियों द्वारा ग्रहण की हुई जिन-प्रतिमाओं को मानने, पूजने का शास्त्रों में निपेध किया है।

शास्त्र में ऐसा नियम है कि—'सम्यग्दृष्टि से ग्रहण किया हुआ मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत है, तथा मिथ्यादृष्टि से ग्रहण किया हुआ सम्यक्श्रुत भी मिथ्याश्रुत है।' वही नियम श्री जिनमूर्ति को लागू पड़ता है। अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा ग्रहण की हुई प्रतिमाओं में से प्रतिमापन चला नहीं जाता फिर भी अविधिपूजन के कारण तथा अन्य जीवों के मिथ्यात्व की वृद्धि में कारण-भूत होने से सम्यग्दृष्टि आत्माओं ने उन प्रतिमाओं के पूजन को त्याज्य बताया है।

यहाँ किसी के मन में प्रश्न उठता है कि 'जिनमूर्ति की भाँति साधु यदि मिथ्यात्वी के मठ में उतरे तो वह पूजनीय है या नहीं ?' तो उसका उत्तर यह है कि अन्यतीर्थी के मकान में उतरने मात्र से उसकी साधुता चली नही जाती। जब तक अपना लिग और क्रिया छोड़कर अन्य लिगी अथवा अन्य लिंग की क्रिया करने वाला नही हो जाता, तब तक वह साधु, साधु की तरह पूजने योग्य है। श्री जिनप्रतिमाओं के लिये ऐसी वात नहीं है क्योंकि अन्य मत वालों द्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमा के पूजन की विधि, वे श्री जिनमत के अनुसार नहीं करते पर अपने शास्त्रानुसार करते है, ऐसी विपरीत विधि को मान्यता देने से प्रत्यक्ष रूप से मिथ्यात्व की वृद्धि होती है।

प्रश्न १२—यदि सम्यग्दृष्टि के हाथ मे रहने वाले मिथ्या-दृष्टि के शास्त्र सम्यक्श्रुत बन जाते हो तो वेद, कुरान, बाइबल आदि सभी धर्मग्रन्थ क्या वन्दनीय नहीं बन जायेंगे ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि के हाथ मे रहने वाले नही, पर हृदय मे रहते हुए शास्त्र, सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिये सम्यक्श्रुत बन जाते हैं। यह प्रभाव उन मिथ्यादृष्टि के शास्त्रो का नही, पर सम्यग्दृष्टि के विवेकशील हृदय का है। निरपेक्ष वाणी मिथ्या होते हुए भी उसे सापेक्ष रूप से विचार करने वाला उसमे से सम्यक् विचारो को ही ग्रहण करता है।

श्री नदीसूत्र मे अक्षर को श्रुतज्ञान कहा है जिससे कुरान आदि मे अक्षर रूप जो ज्ञान है वह अवश्य वन्दनीय है परन्तु उसका भावार्थ वन्दनीय नही है।

कई जिनवाणी को भावश्रुत कहते है तथा अन्य धर्मों के शास्त्रो को द्रव्यश्रुत कहते है, पर यह गलत है। श्री नदीसूत्र मे श्री जिनवाणी को द्रव्यश्रुत तथा उसके भावार्थ को भावश्रुत कहा है। श्री गणधर भगवन्तो ने 'नमो सुग्रदेवयाए' कहकर, श्री जिनवाणी रूप द्रव्यश्रुत को वन्दन करने का पाठ श्री भगवती सूत्र में है तथा उसी सूत्र मे 'नमो वभिलिविए' कह कर ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया है।

श्री जिनवाणी भाषावर्गणा के पुद्गल होने से द्रव्य है तथा ब्राह्मी लिपि भी अक्षर रूप होने से द्रव्य है। इसलिये शास्त्रो मे रहे हुए अक्षर द्रव्यश्रुत हैं और वे भी वन्दनीय हैं, तथा मिथ्याशास्त्रों मे रहे हुए अक्षर भी द्रव्यश्रुत रूप मे वन्दनीय हैं। मिथ्यादृष्टि से ग्रहण किया हुआ उनका भावार्थ मिथ्या होने से

वन्दनीय नहीं है पर सम्यग्दृष्टि से ग्रहण किया हुआ, उनका भावार्थ सम्यग् होने से वन्दनीय है।

प्रश्न १३—प्रभु के नाम को तो स्वीकार करलें, परन्तु उनकी आकृति को नहीं मानें तो क्या ऐसा चल सकता है ?

उत्तर—अपने इष्टदेव, गुरु के नाम को मानकर जो उस नाम वाली आकृति को नही मानते हैं, वे एक दृष्टि से अपने देव, गुरु का अनादर कर घोर पाप करते हैं। जव दो अक्षर के नाममात्र से देव, गुरु के स्वरूप का वोध होने से कल्याण हो तो उसी के समान आकारवाली प्रतिमा से दुगुना लाभ क्यों नही होगा ? समझना तो यह चाहिए कि अकेली आत्मा अरूपी, अविनाशी तथा निरंजन होने से उसका नाम, निशान देह के आश्रित ही होता है। जिसका नाम है, उसकी आकृति भी होनी ही चाहिए। जिसकी आकृति नहीं होती, ऐसी निराकार वस्तु का नाम भी नहीं होता है। शास्त्रों में अरूपी आकाश का भी आकार माना गया है।

इससे स्पष्ट होता है कि आकारहीन वस्तु कोई वस्तु नही है। नाम एव आकृति द्वारा गुण का वोध होता है। नाम के साथ आकृति लगी ही होती है। इससे जहाँ तक नाम मानने की आवश्यकता स्वीकृत है, वहाँ तक आकृति मानने की आवश्यकता का भी स्वीकार हो जाता है। आकृति मानने की आवश्यकता तभी छूट सकती है जव नाम मानने की आवश्यकता भी छूट गई हो।

'नाम गुण का होता है, पर आकार का नही', ऐसा कहने वाले को सोचना चाहिए कि गुण से तो श्री ऋषभदेव और

वर्धमान स्वामी समान है, फिर श्री वर्धमान स्वामी का नाम लेते ही भगवान ऋषभदेव क्यो याद नही आते ? यदि गुण का नाम 'महावीर' का 'वर्धमान' होता तो इस गुण वाले सभी व्यक्ति इन नामो के साथ याद आ जाने चाहिये। परन्तु 'महावीर' अथवा 'वर्धमान' नाम लेने से केवल भगवान 'महावीर' याद आते हैं, इसका क्या कारण है ?

इसका कारण एक ही है कि महावीर नाम केवल उनके गुण का ही नही पर आकार का भी है। भगवान महावीर का आकार और भगवान ऋषभदेव का आकार एक नही है, इसीलिये एक का नाम लेते समय दूसरे याद नही आते हैं।

इससे यह स्वीकार करना पडेगा कि नाम मे गुण प्रधान नही, परन्तु आकार ही प्रधान होता है। इसके उपरान्त भी जो नाम मानकर आकार को मानने से इन्कार करते है, वे मूर्ख है। जहाँ आकृति नही, वहाँ नाम नही और जहाँ नाम नही, वहाँ आकृति नही, इस प्रकार दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध है। परन्तु नाम तथा गुण मे ऐसा पारस्परिक सम्बन्ध नही है। अत नाम और उसके स्मरण का फल मानने वाले को आकार तथा उसकी भक्ति का फल भी अवश्य मानना चाहिए।

प्रश्न १४—वस्तु की अनुपस्थिति मे उसके यथार्थ स्वरूप को जानने के उपाय को ही क्या आकार कहते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक अनुपस्थित वस्तु का यथार्थ स्वरूप केवल उसके नाम द्वारा नही जाना जा सकता परन्तु आकार द्वारा ही जाना जा सकता है। सिंह या बाघ का नाम जानकर कोई जगल मे जाये तो नाम मात्र की जानकारी से वह सिंह या बाघ को

नहीं पहचान सकता है। उनकी पहचान के लिए नाम के साथ-साथ आकार का ज्ञान भी आवश्यक है।

इस कारण अनुपस्थित वस्तु का बोध कराने के लिए अकेला नाम समर्थ नहीं हो सकता। साथ ही आकृति ज्ञात हो, पर नाम मालूम न हो तो उस वस्तु का बोध होना तो सर्वथा अशक्य है। अर्थात् बोधक शक्ति, नाम की अपेक्षा आकार में विशेष रूप से है।

प्रश्न १५—क्या जड़ को चेतन की उपमा दी जा सकती है?

उत्तर—वस्तु के धर्म अनन्त है। प्रत्येक धर्म के कारण वस्तु को, भिन्न-भिन्न अनन्त उपमाएँ दी जा सकती है। एक लकड़ी पर बालक सवारी करता है तब लकड़ी जड़ होते हुए भी उसे चेतन घोड़े की उपमा दी जाती है। पुस्तक अचेतन होते हुए भी उसे ज्ञान या विद्या की उपमा दी जाती है।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान तथा धर्म, ये आत्मिक वस्तुएँ होते हुए भी, इन्हें कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि रत्न की उपमा दी जाती है। वस्तु के अनन्त गुणों में से कोई भी गुण लेकर उसके द्वारा जो-जो कार्य सिद्ध होते हैं उस-उस प्रकार की उपमा देने का व्यवहार विश्वप्रसिद्ध है।

परमात्मा की मूर्ति से परमात्मा का ज्ञान होता है, इससे उस मूर्ति को भी परमात्मा कहा जा सकता है। पाँच सौ रुपये की हुंडी या नोट को पाँचसौ रुपया ही कहते है। वास्तविक रीति से देखने पर रुपये तो चाँदी के टुकड़े है व नोट, हुंडी आदि कागज और स्याही स्वरूप है, परन्तु दोनों से काम एक समान

निकलता है और इसीलिये दोनो को रुपये ही कहा जाता है, वैसे ही परमात्मा की मूर्ति भी परमात्मा का बोध कराने वाली होने से उसे भी परमात्मा की उपमा दी जा सकती है।

प्रश्न १६—आत्मा की उन्नति के लिए पचेन्द्रिय साधु का आलम्बन स्वीकार करना अच्छा है या एकेन्द्रिय पाषाण की मूर्ति का ?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि मूर्ति अचेतन होने से एकेन्द्रिय नही है। साधु का आलम्बन साधु के शरीर के कारण नही, किन्तु उस शरीर को आश्रय देकर रहने वाले साधु के उत्तम सत्ताईस गुणो का है। जो ऐसा न हो तो शरीर तो अचेतन है। उसके आलम्बन से क्या लाभ होने का है ? मूर्ति पत्थर की होते हुए भी उसकी पूजा करते समय पाषाण का आलम्बन नही लिया जाता, पर जिसकी वह मूर्ति है, उस परमात्मा का तथा उस परमात्मा मे रहने वाले अनन्तगुणो का ही आलम्बन लिया जाता है। इस दृष्टि से साधु के आलम्बन से भी परमात्मा की मूर्ति का आलम्बन चढ जाता है, इससे श्री जिनाज्ञानुसार उसको स्वीकार करने वाला, विशेष आत्म-कल्याण कर सकता है।

प्रश्न १७—पाषाण की मूर्ति मे प्रभु के गुणो का आरोपण किस प्रकार होता है ?

उत्तर—जिस प्रकार सण आदि हल्की वस्तुओ को स्वच्छ कर उससे सफेद कागज बनाते हैं और उन कागजो पर प्रभु की वाणी रूप शास्त्र लिखे जाते हैं, तब तमाम धर्मो के लोग उन शास्त्रों को भगवान की तरह पूजनीय मानते हैं। उसी तरह

खान के पत्थर से मूर्ति बनती है और उस मूर्ति में गुरुजन सूरिमंत्र के जाप द्वारा प्रभु के गुणों का आरोपण करते हैं, तब वह मूर्ति भी प्रभु के समान पूजनीय बन जाती है।

किसी गृहस्थ को दीक्षा देते समय गुरु उसे दीक्षा का मंत्र (**करेमि भंते सूत्र**) सुनाते है और शीघ्र ही लोग उसे साधु मानकर वन्दना करते है। यद्यपि उस समय उस नवदीक्षित साधु में साधु के सत्ताईस गुण प्रकट हो गये हों, ऐसा कोई नियम नही है; फिर भी उन गुणों का उसमें आरोपण कर उसकी वन्दना होती है। वैसे ही मूर्ति भी गुणारोपण के बाद प्रभु समान वन्दनीय बनती है, जिससे लोग उसकी वन्दना-पूजा करते है तथा उसको नमस्कारादि करते हैं, यह सर्वथा उचित है।

प्रश्न १८—क्या सदाकाल प्रभुमूर्ति को मानते ही रहना चाहिए ?

उत्तर—हाँ ! जब तक आत्मा प्रमादी और विस्मरणशील है तब तक उसे प्रभुगुणों के स्मरण हेतु प्रभुमूर्ति को मानना ही चाहिए।

ज्ञानाभ्यास में विस्मृति के भय से जिन्हें अचेतन पुस्तकों का सहारा लेना पड़ता है, प्रभु का जाप करते भूल हो जाने के भय से जिन्हें अचेतन जपमाला का आश्रय लेना पड़ता है, चारित्र के परिणाम से पतित हो जाने के भय से जिन्हे रजोहरण, मुख-पट्टिका आदि का आश्रय लेना पड़ता है; सर्दी, गर्मी और वर्षा के भय से जिन्हें अचेतन वस्त्र तथा मकान आदि का सहारा लेना पड़ता है तथा हिंसक-पशु-पक्षी अथवा डाकू आदि के भय से जिन्हे शस्त्र इत्यादि की शरण खोजनी पड़ती है, उन्हें तब तक

प्रभुगुण की स्मृति के लिए अचेतन मूर्ति का आलम्बन लिये विना छुटकारा नही।

दूसरे सभी अचेतन आलम्बनो को स्वीकार करते हुए भी अचेतन के नाम पर केवल परमात्मा की मूर्ति के आलम्बन को मानने से इन्कार करते हैं, उनके लिए तो परमात्मा के ध्यान की कीमत, सासारिक वस्तु जितनी भी नही, ऐसा ही कहा जा सकता है।

पुस्तकादि के आलम्बन विना ज्ञानाभ्यास मे चूक जाने वाले लोग मूर्ति आदि के आलम्बन के अभाव मे परमात्म-ध्यान से नही चूकेंगे, ऐसा कैसे मान लिया जाय ? परमात्म-ध्यान से हटाने वाली प्रतिपक्षी वस्तुओ के ससर्ग से जो मुक्त नही, वे मूर्ति के आलम्बन विना परमात्मा के ध्यान से चूके विना रह ही नही सकते, पर परमात्मा के ध्यान से जीव के चूक जाने पर उसका कितना नुकसान होता है, यह सर्व सामान्य जगत् के ख्याल मे नही होता। इसीलिए परमात्म-मूर्ति के आलम्बन के लिए कोई कुतर्क करे तो तुरन्त मन चल-विचल बन जाता है।

किन्तु शास्त्र कहते हैं कि ससार के अन्य कार्य भूल जाने पर जीव को इतना नुकसान उठाना नही पडता जितना परमात्म-ध्यान से चूक जाने पर। ऐसे अनन्य आलम्बन का इस जगत् मे अभाव हो जाय तो जीव आर्त्त-रौद्र ध्यान मे चढकर अनन्त ससार को वढाने वाला बनता है।

कोई भी व्यक्ति यदि अपने जीवन भर की कमाई को विना ताले की तिजोरी मे रखे तो कभी-न-कभी चोर उसे लूटे विना नही रहेगे। वैसे ही आत्मारूपी तिजोरी मे एकत्र शुभध्यान

रूपी अमूल्य धन को प्रतिमा का आलम्बन रूपी ताला लगाकर सुरक्षित न बनाया जाय तो प्रमाद रूपी चोरों द्वारा उसका नाश हुए विना नहीं रहता।

इस प्रकार शुभध्यान रूपी धन का नाश होने पर आत्मा को अनन्त संसार-सागर में भटकना ही पड़ता है। इसलिए जिनप्रतिमा का आलम्बन प्रमादी जीवों के लिए पानी पहले पुल बाँधने के समान अत्यन्त हितकारक है अथवा जिस प्रकार बिना बाड़ के खेत की, किसान कितनी ही रखवाली क्यों न करे, पशु-पक्षी उसमें प्रवेश कर अनाज का नाश किये बिना नही रहते, उसी प्रकार जिन-प्रतिमा के आलम्बन रूपी बाड़ विना दुर्ध्यान रूपी पशु-पक्षी शुभध्यान रूपी पके हुए धान का नाश किये विना नहीं रहते।

आत्मा अनादि काल से पुद्गल के विषय में आसक्त रही हुई है। उसे पुद्गल के संसर्ग की आसक्ति से मुक्त करने वाला शुभालम्वन प्रतिमा के बिना दूसरा कोई नहीं है। उच्च कोटि के शुभालम्वन तथा ज्ञान-ध्यान आदि द्वारा पुद्गल का राग छूट जाने पर, भूख की तृप्ति होते ही जैसे अनाज की तथा रोग की शांति होते ही जैसे दवा की इच्छा समाप्त हो जाती है, वैसे ही सभी प्रकार के आलम्बन स्वतः ही छूट जाते है। पर उसके पहले संसार में लिप्त प्राणियों को शुभ आलम्बन छोड़ देना हितकर नहीं है। जिस प्रकार साँप अपने आवरण का त्याग करता है वैसे ही उच्च भूमिका प्राप्त होते ही आलम्बन स्वतः ही छूट जाते है।

प्रश्न १६—जड़ प्रतिमा मोक्षदायक कैसे हो सकती है ?

उत्तर—शास्त्र, जो स्याही और कागज रूप होने के कारण जड होते हुए भी 'मोक्ष दिलाने वाले हैं', ऐसा सभी स्वीकार करते हैं, तो परमेश्वर की मूर्ति भी उसके आराधक को मोक्ष का सुख प्रदान क्यो न करे ? शास्त्र ईश्वरीय वचनो की प्रतिमा है, एव मूर्ति भगवान के आकार की प्रतिमा है। शब्दो की प्रतिमा से जिस प्रकार ज्ञान होता है, उसी प्रकार आकार की प्रतिमा से भव्य आत्माओ को ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता ही है।

प्रश्न २०—अक्षरो के आकार को देखने मात्र से ज्ञान होता है परन्तु मूर्ति को देखने मात्र से ज्ञान कहाँ होता है ?

उत्तर—अक्षराकार को देखने मात्र से ज्ञान होने की बात कहना गलत है। इस ज्ञान के पूर्व शिक्षक द्वारा उन अक्षरो को पहिचानना पडता है।

अक्षरो को पहिचानने के बाद ही पढना या लिखना सीखा जा सकता है। इस प्रकार गुर्वादिक द्वारा—"यह देवाधिदेव श्री वीतराग की मूर्ति है, इनके अज्ञानादि दोषो का नाश हो चुका है। ये अनन्त गुण वाले हैं। ये देवेन्द्रो से भी पूजित हैं, तत्त्वो का उपदेश देने वाले है, मोक्ष की प्राप्ति उन्हे हो चुकी है, ये ससार सागर से तिर चुके हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी है, दया के सागर हैं, परीषह तथा उपसर्गों की सेना को भगाने वाले हैं तथा रागादि से रहित हैं।" ऐसा ज्ञान जैसे-जैसे होता जाता है, वैसे-वैसे मूर्ति के दर्शनादि करते समय उन अगुणो का ज्ञान तथा स्मरण दृढतर बनता जाता है।

प्रश्न २१—मूर्ति के दर्शन से देव का स्मरण होता है, यह बात बराबर है, पर उसकी भक्ति से क्या लाभ ?

उत्तर—शास्त्र के सुनने अथवा पढ़ने से परमेश्वर के वचनों का बोध होता है, तो भी शास्त्र का उपकार मानने वाले भक्त लोग उसे ऊँचे स्थान पर रखते हैं, पैर नहीं लगने देते, मल-मूत्र वाली अपवित्र जगह से दूर रखते हैं, अच्छे कपड़े में लपेट कर सिंहासन पर रखते हैं तथा उसको वन्दन-नमस्कार करते है।

इस प्रकार शास्त्र की भक्ति करने से शास्त्र के वचनों पर प्रेम बढ़ता है, श्रद्धा सुदृढ़ होती है तथा सन्मार्ग पर चलने का बल प्राप्त होता है। इसी तरह प्रतिमा की भी वन्दन-नमस्कार-पूजनादि द्वारा भक्ति करने से भगवान पर प्रेम बढ़ता है, श्रद्धा सतेज होतो है तथा गुणप्राप्ति की तरफ आगे बढ़ने के लिए आत्मा में उत्साह आता है। गुणप्राप्ति के उत्साह से शुभध्यान की वृद्धि होती है, शुभध्यान की वृद्धि से कर्म-रज का नाश होता है और ऐसा होने पर मोक्षमार्ग अत्यन्त सुगम हो जाता है।

प्रश्न २२—पत्थर की गाय को दुहने से जैसे दूध प्राप्त नहीं होता है, वैसे पत्थर की मूर्ति पूजने से भी क्या कार्य सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर—पहली बात तो यह है कि यहाँ गाय का दृष्टान्त देना अनुपयुक्त है। गाय के पास से दूध लेने का होता है, पर मूर्ति के पास से कुछ लेने का नहीं होता। गाय जैसे दूध देती है, वैसे मूर्ति कुछ नही देती है। पूजक स्वयं अपनी आत्मा में छिपे हुए वीतरागतादि गुणों को मूर्ति के आलम्बन से प्रकट करता है।

दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार पत्थर की गाय दूध नहीं

देती वैसी सच्ची गाय भी, हे गाय ! तू दूध दे' ऐसा कहने मात्र मे दूध नही देती है। तो फिर साक्षात् परमात्मा के नाम से या जाप मे भी कार्यसिद्धि नही होनी चाहिए और परमात्मा का नाम भी नही लेना चाहिए। परन्तु जिस शुभ उद्देश्य से ईश्वर का नामस्मरण किया जाता है, उसी शुभ उद्देश्य से परमात्मा की मूर्ति की उपासना भी कर्तव्य बन जाती है। परमात्मा का नाम लेने मे जैसे अन्त करण की शुद्धि होती है, वैसे ही परमात्म-मूर्ति के दर्शनादि मे भी अन्त करण की शुद्धि होती ही है।

इसी तरह कई लोग कहते है कि 'जिस प्रकार सिह की मूर्ति आकर मारती नही है, वैसे ही भगवान की मूर्ति भी आकर तारती नही, क्योकि 'सिह ! सिह !'—ऐसा नाम लेते ही क्या सिह आकर मारता है ? नही। तो फिर भगवान का नाम लेना भी निरर्थक ही ठहरेगा। सिह की मूर्ति नही मारती, इसका कारण यह है कि मारने मे सिह को स्वय को प्रयत्न करना पडता है, मरने वाले को नही, जबकि भगवान की मूर्ति द्वारा तिरने मे मूर्ति को कोई प्रयत्न करना नही पडता है, किन्तु तरने वाले को करना पडता है।

मुक्ति की प्राप्ति हेतु व्रत, नियम, तपस्या, सयम आदि की आराधना व्यक्ति को करनी पडती है, परमात्मा को नही। परमात्मा के प्रयत्न मे ही जो तिरने का होता तो परमात्मा तो अनेक शुभ क्रिया कर गये हैं, फिर भी उनमे अन्य क्यो नही तिर गये ? परन्तु वैसा होता नही है।

एक के खाने से जैसे दूसरे की भूख नही मिटती, वैसे भगवान के प्रयत्न मात्र से भक्तजनो की मुक्ति नही हो जाती। उनकी

मुक्ति के लिए वे स्वयं ही प्रयत्न करें, तभी सिद्धि होती है। फिर भी भगवान की मूर्ति के आलम्बन से ही जीव को तप-नियमादि करने का उल्लास होता है और उसी आधार पर 'भगवान की मूर्ति तारती है', ऐसा कहने में किसी भी प्रकार की हरकत नही है।

'पत्थर की गाय दूध देती ही नहीं'—ऐसा कहना भी गलत है। गाय के आँचल तथा उसकी दोहन क्रिया से अनभिज्ञ व्यक्ति को इसका ज्ञान देने के लिये भी गाय की आवश्यकता होती है और साक्षात् गाय के अभाव में उसकी मूर्ति द्वारा दोहने की उस क्रिया का ज्ञान दिया जा सकता है। इस ज्ञान के अभाव में यदि प्रत्यक्ष रूप में गाय मिल भी जाय तो भी उससे दूध प्राप्त करने की आशा व्यर्थ है। इस कारण एक अपेक्षा से गाय की मूर्ति ही दूध देने वाली सिद्ध हुई, यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।

इसी तरह भगवान के अभाव में भगवान की भक्ति और उनके ध्यान के ज्ञान के लिए भगवान की मूर्ति आवश्यक है। मूर्ति के अभाव में भक्ति एव ध्यान करने का वास्तविक अनुष्ठान तथा विधि जानना सम्भव नहीं। ध्यान तथा भक्ति बिना मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा, वन्ध्या के पुत्र की तरह, वन्ध्या ही रहती है। इस तरह पत्थर की गाय जैसे दोहने की क्रिया सिखलाती है, वैसे ही पत्थर की मूर्ति भक्ति-ध्यानादि करना सिखाती है और उसके अनुष्ठान को जीवन में क्रियाशील बनाती है।

प्रश्न २३—परमात्मा के नाम मात्र से ही यदि उनके स्वरूप का बोध हो जाता हो तथा उससे अन्तःकरण की शुद्धि होती हो तो फिर उनकी प्रतिमा को पूजने का आग्रह किसलिए ?

उत्तर—प्रतिमा के दर्शन मे जैसी आत्मशुद्धि होती है, वैसी नाममात्र से कदापि नही हो सकती। नाम की अपेक्षा आकार मे अधिक विशेषताएँ हैं। जैसा आकार देखने मे आता है वैसा ही आकार सम्बन्धी धर्म का चिन्तन मन मे होता है।

सम्पूर्ण शुभ अवयवो की प्रतिमा देखकर, उसी प्रकार का भाव उत्पन्न होता है। कामशास्त्रानुसार स्त्री-पुरुषो के विषयसेवन सम्बन्धी आसन आदि को देखकर देखने वाले कामी व्यक्ति को, तत्काल विकार उत्पन्न होता है। योगासनो की आकृतियो को देखने से योगी पुरुषो के योगाभ्यास मे शीघ्र वृद्धि होती है।

भूगोल के अभ्यासी को नक्शा आदि देखने से वस्तुओ का ज्ञान आसानी से होना है। मकानो के प्लान देखने से उसके जानकार को उन वस्तुओ का तुरन्त ध्यान आता है, केवल नाम मे वह सारा ख्याल नही आ सकता। इसी प्रकार परमात्मा के नाम की अपेक्षा परमात्मा के आकार वाली मूर्ति से परमात्मा के स्वरूप का अधिक स्पष्ट बोध होता है, तथा परमात्मा का ध्यान करने के लिए आसानी पैदा हो जाती है।

वन्दन-पूजन एव आदर-सत्कार जिस ढग से मूर्ति का हो सकता है, उस ढग से नाम का नही हो सकता। मूर्ति की भक्ति मे तीना योग तथा अन्य सभी सामग्रियो की विशेषता ग्रहण की जा सकती है, जबकि नाम-कीर्तनादि मे वह सब नही हो सकता।

प्रश्न २४—निरालम्बन ध्यान कब तक नहीं हो सकता ?

उत्तर—श्री जैनशास्त्रों में मोक्ष रूपी महल पर चढ़ने के लिए चौदह सीढ़ियाँ रूपी चौदह गुणस्थानक वर्णित हैं। उनमें से प्रथम पाँच गुणस्थानक गृहस्थों के लिए हैं और शेष नौ गुणस्थानक साधुओं के लिए है। छठे गुणस्थानक का नाम प्रमत्त तथा सातवें का नाम अप्रमत्त है। सम्पूर्ण आयुष्य के काल में, सातवें गुणस्थानक का काल गिना जावे, तो भी अन्तर्मुहूर्त मात्र का ही है।

सात से ऊपर के गुणस्थानक इस काल में विद्यमान नही हैं। मुख्यतया प्रथम छह गुणस्थानक इस काल में विद्यमान हैं। साधु के छठे गुणस्थानक में भी पाँच प्रकार के प्रमाद सम्भव होने से निरालम्वन ध्यान हो ही नहीं सकता। गृहस्थ तो अधिक से अधिक पाँचवे गुणस्थानक तक ही पहुँच सकते है। वह तो अवश्य प्रमादी है। प्रमादी व्यक्तियों को निरालम्वन ध्यान के लिए अयोग्य बताया है। श्री गुणस्थान क्रमारोह में पूज्यपाद श्री रत्नशेखर सूरीश्वरजी महाराजा ने फरमाया है कि—

प्रमाद्यावश्यकत्यागात्, निश्चलं ध्यानमाश्रयेत्।
योऽसौ नैवागमं जैनं, वेत्ति मिथ्यात्वमोहितः ॥ १ ॥

अर्थ—स्वयं प्रमादी होने पर भी जो आत्मा अवश्य करणीय का त्याग करती है तथा निश्चल जैसे निरालम्वन ध्यान का आश्रय करती है, वह विपरीत ज्ञान से मूर्ख बनी आत्मा, श्री सर्वज्ञ भगवान के आगमों को नहीं जानती है।

इस काल में जीव सातवे गुणस्थानक से ऊँचा नहीं चढ़ सकता है और सातवें गुणस्थानक का समय तो बहुत थोड़ा है:

अत जीव को छठा अथवा इससे उतरता गुणस्थानक होने से निरालम्बन ध्यान सम्भव नही है। इस काल के बडे और समर्थ पुरुष भी जब निरालम्बन ध्यान का मनोरथ मात्र किया करते हैं, तो अल्प शक्ति वाले तथा विषय-वासना मे डूबे रहने वाले व्यक्तियो के लिए तो निरालम्बन ध्यान हो ही कैसे सकता है ?

प्रश्न २५—कोई विधवा अपने मृत पति की मूर्ति बनाकर पूजा-सेवा करे तो क्या इससे उसकी काम-तृप्ति अथवा पुत्र-प्राप्ति होती है ? नहीं होती तो फिर परमात्मा की मूर्ति से भी क्या लाभ होने वाला है ?

उत्तर—यह एक कुतर्क है। इसका उत्तर भी उसी प्रकार देना चाहिए। पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी स्त्री एक आसन पर बैठकर हाथ मे माला लेकर पति के नाम का जाप करे तो क्या उस स्त्री की इच्छा पूरी हो जाएगी या उसे सन्तान प्राप्ति हो जाएगी ? नही होगी। तो फिर प्रभु के नाम की जपमाला गिनना भी निरर्थक सिद्ध होगा। प्रभु के नाम से कुछ भी लाभ नही होता, ऐसा तो कोई नही कह सकता। इसके विपरीत उसी विधवा स्त्री को पति का नाम सुनने से जो आनन्द और स्मरण आदि होगा उसकी अपेक्षा दुगुना आनन्द तथा स्मरणादि उसे उसकी मूर्ति अथवा चित्र देखकर होगा। इस तरह नाम की अपेक्षा मूर्ति मे विशेष गुण निहित हैं।

पुन किसी व्यक्ति न कभी साँप को नही देखा, केवल उसका नाम सुना है। इतने मात्र से उस पुरुष के किसी स्थान पर सर्प देखने पर 'यह सर्प है' ऐसा ज्ञान होगा ? नही होगा।

परन्तु सर्प का आकार जिसने जाना होगा, वह सर्प को प्रत्यक्ष रूप मे देखते ही उसे पहचान जाएगा।

इस प्रकार जिस व्यक्ति ने मनुष्य विशेप को देखा नहीं, और न उसकी तस्वीर देखी है; केवल उसका नाम सुना है तो वह व्यक्ति किसी समय उस मनुष्य के निकट से भी निकल जाय तो भी उसे पहचान नही सकेगा, परन्तु जिस व्यक्ति ने उसकी तस्वीर देखी होगी, वह शीघ्र उसे पहचान जाएगा कि 'यह वह व्यक्ति हैं' इस पर से भी सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप पहिचानने के लिए नाम जितना उपयोगी है, उसकी अपेक्षा मूर्ति अथवा आकार अधिक उपयोगी है।

प्रश्न २६—जब कारीगर द्वारा निर्मित मूर्ति पूजनीय है, तो उसका निर्माता कारीगर विशेष पूजनीय क्यों नहीं ?

उत्तर—कारीगर प्रतिमा को वनाने वाला है न कि उस व्यक्ति को जिसकी वह प्रतिमा है। वीज को धरती में वोया जाता है, खाद डाली जाती है और कृषक के परिश्रम से ही उन वीजों से अन्न उपजाया जाता है। फिर भी अनाज के खाने वाले मिट्टी अथवा खाद आदि खाना पसन्द नही करते।

श्री जिनप्रतिमा वनती है पत्थर आदि से, उसे वनाता है कारीगर, पर उसका स्वरूप तो श्री वीतराग परमात्मा का है। यदि कारीगर श्री वीतराग परमात्मा का ही सर्जक हो तो वह अवश्य पूजनीय है, पर ऐसा तो नही है। पतिव्रता स्त्री पति के फोटो का आदर करती है पर फोटोग्राफर का नहीं। शास्त्रों को लिखने वाले प्रतिलिपिकार हैं, पर क्या वे पूजनीय है ? नही

हैं। क्योंकि शास्त्रों का उद्भवस्थान प्रतिलिपिकार नहीं है। वे तो केवल नकल करने वाले हैं।

शास्त्र पूजनीय होने से शास्त्रकार पूजनीय माने जाते है, तथा शास्त्रकार पूजनीय होने से उनके द्वारा रचित शास्त्र पूजनीय माने जाते है। यह बात बिल्कुल ठीक है। इसी तरह श्री जिनेश्वरदेव पूजनीय होने के कारण उनकी प्रतिमा भी पूजनीय गिनी जाती है, परन्तु प्रतिमा को बनाने वाला कारीगर नहीं। किसी प्रिय अथवा पूज्य व्यक्ति के चित्र में अधिकाधिक यथार्थता लाने वाला व्यक्ति पुरस्कार का पात्र बनता है। ठीक उसी तरह वीतरागता की सुन्दर छाया रूप में श्री जिनमूर्ति को बनाने वाला कारीगर आनन्द देने वाला व इनाम का पात्र बनता है।

जो श्री वीतराग परमात्मा की मूर्ति को मानने-पूजने आदि मे इन्कार करने के लिए ऐसे कुतर्क उठाते हैं कि 'जब मूर्ति पूजनीय है तो उसका बनाने वाले कारीगर विशेष पूजनीय क्यों नहीं ?' उनसे पूछना चाहिए कि तुम जिन शास्त्रों को पूजनीय मानते हो, उनकी नकल करने वाले प्रतिलिपिकार अथवा मुद्रण करने वालों को शास्त्रों से अधिक पूजनीय मानते हो क्या ? साधु-महात्माओं के वस्त्रादि उपकरणों को तुम बहुत आदरणीय मानते हो परन्तु उनको बनाने वाले बुनकर तथा कारीगर आदि को इनसे भी बढ़कर आदरणीय मानते हो क्या ? यदि नहीं तो श्री जिनमूर्ति के सम्बन्ध मे ही ऐसे कुतर्क क्यों ? श्री जिनमूर्ति की पूजनीयता श्री जिनेश्वरदेव के गुणों के फलस्वरूप ही है, इस बात को समझने वाले व्यक्ति तो कभी ऐसे बुरे विचारों में नहीं फँसेंगे।

प्रश्न २७—प्रतिमा निर्जीव है तो उसकी पूजा क्यों होती है ?

उत्तर—जो द्रव्य पूजनीय है, तो वह सजीव हो या अजीव, वह पूजनीय है ही। दक्षिणावर्त शंख, कामकुम्भ, चिन्तामणि रत्न, चित्रावेल आदि पदार्थ अजीव तथा जड़ होने पर भी विश्व में पूजे जाते हैं और उनके पूजने वालों को मनवांछित फल की प्राप्ति भी होती है। जैसे ये निर्जीव वस्तुएँ अपने स्वभाव से पूजक का हित करती है, वैसे ही श्री जिन प्रतिमा भी पूजक आत्माओं को स्वभाव से ही शुभ फल देती है।

प्रश्न २८—जिन प्रतिमा तो साधारण कीमत में बिकती है, तो फिर उसे भगवान कैसे माना जाय ?

उत्तर—भगवान की वाणीस्वरूप श्री आचारांग, श्री भगवती आदि पुस्तकें थोड़ी कीमत में बिकती हैं, तो फिर उन्हें भी पूजनीय कैसे माना जा सकता है ? पुस्तकों द्वारा ज्ञान का प्रचार होता है अतः वे पूजनीय हैं, प्रतिमा द्वारा भव्यात्माओं को परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है अतः वह इससे भी अधिक पूजनीय है।

शास्त्र जो कि कागज पर स्याही से लिखे हुए है, उनको भी स्वयं गणधर महर्पियों ने 'भगवान' कहकर वन्दन-नमस्कार किया है तो प्रतिमा वन्दन-नमस्कार योग्य हो, इसमें शंका ही क्या है ? शास्त्रों में कहा है कि—

'नमो बंभीलिविए' ब्राह्मीलिपि को नमस्कार हो !

'आयरस्सणं भगवओ' भगवान श्री आचारांग' इत्यादि

सुलभ और सस्ती वस्तुएँ भी कई बार बडे व्यक्तियो के स्वीकार करने पर दुर्लभ तथा कीमती बन जाती है। ठीक वैसे ही अल्प मूल्य मे मिलने वाली प्रतिमाएँ भी अजनशलाका तथा प्रतिष्ठा आदि शुभ क्रियाओ के द्वारा अमूल्य एव परम पूजनीय बनती हैं। राज्याभिषेक होने पर जैसे साधारण व्यक्ति भी राजा गिना जाता है तथा विवाहोत्सव के बाद साधारण घर की कन्या भी राजरानी अथवा बडे घर की सेठानी गिनी जाती है, वैसे ही अल्प मूल्य मे मिलने वाली प्रतिमाएँ भी श्री सघ द्वारा विधिवत् प्रतिष्ठा होने पर, साक्षात् परमात्मा के समान पूजनीय बनती हैं।

प्रश्न २६—मूर्ति परमात्मा तुल्य हो तो उसे स्त्री का स्पर्श क्यों ? उसे ताले मे क्यो रखा जाता है ?

उत्तर— स्त्री के स्पर्श का दोष, भाव अरिहन्त को लेकर है। प्रतिमा तो श्री अरिहन्तदेव की स्थापना है। स्थापना अरिहन्त को स्त्री के स्पर्श से कोई दोष नही लगता। यदि कोई स्थापना अरिहन्त तथा भाव अरिहन्त दोनो मे एक समान दोषो का आरोपण करना चाहता हो तो वह सम्भव नही है।

सूत्रो मे सोना-चादी तथा स्त्री, पुरुष एव नपु सक आदि अनेक वस्तुओ के नाम लिखे होते ह। वे सभी उन-उन नामो के अक्षरो की स्थापना है। उनमे चित्र भी होते है। यदि स्थापना और भाव मे समान दोष लगने की कल्पना की जाय तो उनको हाथ मे लेने से साधु-साध्वी के महाव्रत समाप्त हो जाने चाहिए, पर ऐसा नही होता।

शास्त्र तो सभी मुनिगण हाथ मे लेकर पढते हैं। उसमे

देवलोक के देव-देवियों के चित्र तथा नारकियों के चित्र आदि का सभी स्पर्श करते हैं। वर्तमान पत्रों एवं पुस्तकों में स्त्री-पुरुषों के चित्र पत्ते-पत्ते पर भरे होते है, उनका ब्रह्मचारी, मुनिवर आदि भी स्पर्श करते है। तो क्या सबके शीलव्रत कायम रहते है या भंग हो जाते है? चित्रों आदि के स्पर्श से यदि शीलव्रत नष्ट हो जाता हो तो जगत् में शुद्ध ब्रह्मचर्य को पालने वाला कोई मिलेगा ही नहीं। अतः जैसे चित्र, पुरुषादि की स्थापना है और इनका स्पर्श होने से ब्रह्मचारी को दोष नहीं लगता वैसे ही मूर्ति, श्री अरिहन्त देव की स्थापना है, उसे स्त्री आदि का स्पर्श होने से किस प्रकार दोष लग सकता है?

साधु हरी वनस्पति को हाथ नही लगाते है, फिर भी ग्रन्थों अथवा पुस्तकों में स्थान-स्थान पर झाड़ी या वनस्पतियों के चित्र आते है तो उनका स्पर्श करने से क्या वनस्पति के स्पर्श का दोष लगता है? नही लगता।

इससे सिद्ध होता है कि भाव अरिहन्त तथा स्थापना अरिहन्त में एक समान दोष आरोपित नही हो सकते। ऐसा करने पर महा अनर्थ हो जाता है।

दूसरी बात है—ताले चाबी की, भगवान की स्थापना होने के कारण प्रतिमाजी की रक्षा हेतु मन्दिरों को ताला लगाया जाता है। इससे तो उलटी भक्ति होती है, दोष नहीं लगता तथा भक्ति का परम फल मोक्ष है।

जैसे भगवान की वाणी की स्थापना रखने वाले सूत्रों की रक्षा के लिए उन्हें उत्तम वस्त्रो में लपेट कर अलमारी मे रखकर ताला लगाया जाता है तथा साधु-साध्वियों के चित्रों को सुन्दर

फ्रेम मे मढवा कर भव्य दीवानखानो मे टागा जाता है वैसे ही भगवान की प्रतिमाओ की रक्षा के लिए श्री जिन मन्दिर तथा उसके गर्भद्वार पर ताला लगाया जावे या रक्षा हेतु कोई अन्य प्रवन्ध किया जावे तो इसमे क्या दोष है ? यदि ऐसा नही किया जावे तो दुष्ट लोग आशातना आदि करते हैं और उसका दोष रक्षा नही करने वाले को लगता है ।

प्रश्न ३०—क्या मूर्ति मे वीतराग के गुण हैं ?

उत्तर—एक अपेक्षा से हैं तथा एक अपेक्षा से नही भी है । पूजक व्यक्ति उसमे वीतराग भाव का आरोपण कर पूजा करता है, तव वह मूर्ति वीतराग समान ही बनती है तथा वीतराग की भक्ति जितना ही फल देती है । इस दृष्टि से श्री जिनमूर्ति श्री जिनवर के समान है । दुष्ट परिणाम वाले व्यक्ति को मूर्ति के दर्शन से कोई लाभ नही होता, परन्तु इसके विपरीत अशुभ परिणाम से कर्मवन्धन होता है । इसके वजाय हम यह कह सकते हैं कि मूर्ति वीतराग के समान नही है पर इससे इसकी तारक शक्ति चली नही जाती । शक्कर मीठी होते हुए भी गधे को नही रुचती है, वल्कि नुकसान करती है, पर इससे शक्कर का स्वाद नष्ट नही होता । वैसे ही मूर्ति भी मिथ्यादृष्टि जीवो को रुचिकर नही होती, पर इसमे उसकी मोक्षदायकता चली नही जाती ।

प्रश्न ३१—मूर्ति यदि जिनराज तुल्य है तो इस पचम आरे मे तीर्थंकर का विरह क्यो कहा गया है ?

उत्तर—भरतक्षेत्र मे पचम आरे मे तीर्थंकर का विरह वताया है । यह भाव तीर्थंकर की अपेक्षा से कहा गया है न कि स्थापना

अरिहन्त की अपेक्षा से। किसी गाँव में साधु न हो पर उनकी तस्वीर हो तो भी ऐसा कहा जाता है कि, 'इस गाँव में आजकल कोई साधु नही विचरते' तो वह विरह भाव साधु का ही समझा जाता है। कोई ऐसा नहीं मानता कि 'इस गॉव मे साधु की तस्वीर का भी अभाव है।'

प्रश्न ३२—एक क्षेत्र में दो तीर्थंकर नहीं होते हैं, पर एक ही भवन में अनेक मूर्तियों को क्यों एकत्र किया जाता है ?

उत्तर—यह विपय भी स्थापना सम्वन्धी है और जो निषेध है वह भाव अरिहन्त के सम्वन्ध में है। जैसे सभी तीर्थंकर सिद्धगति को प्राप्त होते हैं तब अनन्ती चौवीसी के तीर्थंकर एक ही क्षेत्र (द्रव्य-निक्षेप से) में रहते हैं वैसे (स्थापना-निक्षेप से) एक ही मंदिर में एक सौ आठ अथवा उससे भी अधिक प्रतिमाओं के रहने में कोई वाधा नही है।

स्थापना को भी एक साथ रखने में यदि कोई वाधा होती तो श्री जम्वूद्वीप मे सैकड़ों पर्वत, नदी, गुफाएँ आदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर है, पर इनको एक ही नक्शे में एकत्र कर लोगों को कैसे समझाया जाता है ? सूत्रों मे सभी तीर्थंकरो के नाम की स्थापना जैसे एक ही कागज पर की जाती है तथा नाम अरिहन्त एवं द्रव्य अरिहन्त को भी एक साथ रहने में जैसे कोई वाधा नही आती है, वैसे स्थापना अरिहन्त को भी एक ही मकान मे रहने मे कोई वाधा नहीं आती है। जो वाधा है वह भाव अरिहन्त को ध्यान में रखकर वताई गई है।

प्रश्न ३३—क्या गुरु का चित्र देखकर शिष्य एवं पिता का चित्र देखकर पुत्र खड़ा होगा ? आदर देगा ? ससुर की तस्वीर

देखकर पुत्रवधू घू घट निकालेगी ? यदि नहीं तो फिर मूर्ति को मानने का आग्रह किसलिए ?

उत्तर—शिष्य अपने गुरु की तथा पुत्र अपने पिता की तस्वीर का आदर नही करेगा तो क्या अपमान करेगा ? अथवा कोई शत्रु यदि उन तस्वीरो के मुख पर काजल पोतना चाहेगा तो क्या वे ऐसा करने देंगे ? क्या वे इसको सहन करेंगे ? अथवा तस्वीरो को केवल कागज तथा स्याही का रूप मानकर रास्ते मे लोगो के पैरो तले कुचलने के लिए फेंक देंगे। ऐसे कार्य किसी ने किये नही और यदि कोई करता है तो वह विचारको की दृष्टि मे कपूत एव हँसी का पात्र गिना जायेगा। इस प्रकार का आचरण साक्षात् गुरु और साक्षात् पिता का अपमान करने के तुल्य ही गिना जाता है। इसके विपरीत उन चित्रो को अच्छी फ्रेम मे लगाकर मेज या सिंहासन पर ऊँचे स्थान पर रखें अथवा दीवार पर स्वच्छता मे लगावे तो इसे गुरु अथवा पिता का आदर करना ही माना जायेगा तथा इसे देखकर अपने गुरु अथवा पिता की याद आये बिना भी नही रहेगी।

दूसरी बात—शिष्य अथवा पुत्र, गुरु अथवा पिता के नाम का आदर करे या नही ? यदि करता है, तो नाम की अपेक्षा चित्र से तो विशेष याद आती है, ऐसी दशा मे उसे उसका विशेष विनय आदि करना चाहिए।

साथ ही यह तर्क भी व्यर्थ है कि पुत्रवधू श्वसुर की तस्वीर को देखकर घू घट नही निकालती। जैसे तस्वीर देखकर शर्म नही करती वैसे ही नाम सुनकर भी घू घट नही निकालती है तो फिर परमात्मा का नाम भी निरर्थक ही समझना चाहिए। इसके

विपरीत श्वसुर को पहले नहीं देखा हो तो उसका चित्र देखकर बहू को इस बात का ज्ञान होगा कि—'ये मेरे श्वसुर हैं।' वैसे ही जिन्होंने भगवान को नहीं देखा है वे मूर्ति से पहचान जायेंगे कि ये भगवान है।

श्वसुर की पहचान होते ही बहू को घूंघट निकालने की शंका नहीं रहती, जिससे लाज करने-न-करने का कार्य सुगम हो जाता है। वह श्वसुर को पहचान कर तुरन्त घूंघट निकालती है तथा दूसरों को देखकर नहीं निकालती। वैसे ही मूर्ति द्वारा प्रभु की पहचान होने पर असेव्य के परित्याग का तथा सेव्य की सेवाभक्ति करने का कार्य सुगम बन जाता है और किसी भी प्रकार के भ्रमजाल में पड़ने का भय नही रहता। मूर्ति का यह भी एक महान् उपकार है।

प्रश्न ३४—भगवान की मूर्ति ही यदि भगवान है तो पापी चोर उनके आभूषण कैसे चुरा कर ले जाते हैं? लोग उनकी हजारों की रकम कैसे हजम कर जाते है? उनकी मूर्ति को दुष्ट कैसे खण्डित कर जाते हैं? और यदि भगवान सर्वज्ञ हैं तो उनकी मूर्ति को धरती से खोदकर क्यों निकालनी पड़ती है? शासनदेव यह कार्य क्यों नहीं करते?

उत्तर—यह प्रश्न ही मूर्खतापूर्ण है। श्री वीतराग के गुणों का आरोपण कर भक्ति के लिए जड़ वस्तु से बनी मूर्ति जमीन में से अपने आप क्यों नही निकलती अथवा उसके अलंकार आदि को चोरी करते हुए पापी लोगों को शासनदेवता क्यों नही रोकते? इसका उत्तर यह है कि जड़ स्थापना में यह शक्ति कहाँ से आवे? तथा शासनदेव प्रत्येक प्रसंग पर आकर उपस्थित हो जावें, ऐसा नियम कहाँ है?

भगवान श्री महावीरदेव के जीवनकाल मे उनकी सेवा मे लाखो देव उपस्थित रहते थे, फिर भी मखलि पुत्र गोशाला ने भगवान पर तेजोलेश्या फेंकी और उससे उन्हे खून के दस्त की व्याधि हुई। उस समय शासनदेवो ने कुछ नही किया, इससे क्या उनकी भक्ति मे अन्तर आ गया ? कितने ही भाव ऐसे होते है कि जिनको देवता भी नही बदल सकते। जिस समय जो होना है वह किसी काल मे भी मिथ्या नही होता। स्वय श्री तीर्थंकर महाराजा से दीक्षा ग्रहण करके अनेक स्त्री-पुरुष उनके विरोधी हुए हैं, अनेक प्रकार के पाखडी मत उन्होने स्थापित किये हैं तथा भगवान की निन्दा की है, तो क्या सर्वज्ञ भगवान इस बात को नही जानते थे कि ये पाखण्डी चारित्र की विराधना करेंगे और मिथ्यात्व का प्रचार करेंगे ? सब कुछ जानते थे तो फिर उन्हे दीक्षा क्यो दी ? केवल इसलिए कि ऐसे भावि-भाव आदि को भी ये तारक जानते थे।

वर्तमान मे श्री वीतराग का धर्म अति अल्प प्रमाण मे रह गया है। उसमे भी अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न शाखाएँ पडी हैं तथा चलनी की तरह छेद हो गये हं। मिथ्यात्व एव दुराग्रह के अधीन व्यक्ति उत्सूत्र भाषण करने मे कुछ बाकी नही रखते। तब फिर ऐसे निन्दक तथा प्रतिक्रियावादियो को रोककर शासन-देव सत्यमार्ग का उपदेश क्यो नही देते ? लोगो को महाविदेह क्षेत्र मे श्री सीमन्धर स्वामी के पास ले जाकर उनके दर्शन कराकर शुद्ध धर्म का प्रतिबोध क्यो नही करवाते ? अत देवताओ के हाथों से भी जो-जो चमत्कारी कार्य होने लिखे होते है, वे ही होते है, उनसे अधिक नही, ऐसा मानना चाहिए।

अभी हाल मे भी बहुत सी मूर्तियाँ, जैसे कि श्री भोयणीजी

में श्री मल्लिनाथ भगवान तथा श्री पानसर में श्री महावीर स्वामी भगवान आदि के लिए शासनदेव स्वप्न में आकर अनेक प्रकार के चमत्कार वताते हैं। असंख्य वर्षों से मूर्तियों की रक्षा भी करते हैं। इसके अतिरिक्त कई उपसर्गादि का निवारण भी करते हैं और बहुतों का नहीं भी करते है, क्योंकि हर वार शासनदेव सहायता करें, ऐसा नियम नही है।

आज के युग में कई मूर्ख लोग श्री जिनमन्दिर में चोरी आदि करने का दुष्ट कर्म करते है तो उसका फल वे अवश्य भुगतेंगे। इससे शासनदेवताओं को कलंक नही लगता अथवा इससे स्थापना अरिहन्त की महिमा भी नहीं घटती। अरिहन्त की महिमा तो तभी कम हो सकती है, जवकि स्थापना अरिहन्त के भक्तों को इस भक्ति से वीतराग परमात्मा के गुणों आदि का स्मरण न होता हो, उनको वीतराग भाव, देशविरति अथवा सर्वविरति के परिणाम, संयम और तप की ओर वीर्योल्लास, भवभ्रमण का निवारण अथवा मोक्षसुख की निकटता आदि न होती हो। इन सभी लाभों से कोई भी इन्कार नही कर सकता।

प्रश्न ३५—निरंजन निराकार की मूर्ति किस प्रकार बन सकती है ?

उत्तर—तमाम मतों के देव तथा शास्त्रों के रचयिता निराकार नहीं हुए, साकार ही हुए हैं। देहधारी के सिवाय कोई भी शास्त्रों की रचना नही कर सकता और न मोक्षमार्ग ही वता सकता है। सभी शास्त्र अक्षर स्वरूप है। अक्षरों का समूह तालु, ओष्ठ, दाँत आदि स्थानो से उत्पन्न होता है और वे स्थान देहधारी को ही होते है और इसीलिए ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की मूर्ति अवश्य हो सकती है।

मोक्षगामी होने के पश्चात् वे अवश्य निराकार बन जाते हैं, फिर भी उनकी पहिचान के लिए मूर्ति की आवश्यकता रहती है। जिस प्रकार शास्त्रो के रचने वाले देहधारियो के मुख से निकले हुए अक्षरो के समूह किसी विशेष आकार के नही होते हैं, यद्यपि उनके आकार की कल्पना करके, उनको शास्त्रो के कागजो पर अकित किया गया है और इसी से उनका बोध होता है। वैसे ही निराकार सिद्ध भगवान का आकार भी इस दुनिया मे, उनके अन्तिम भव के अनुसार कल्पना करके मूर्ति रूप मे उतारा जाता है। इससे निराकार सिद्ध भगवान का स्वरूप भी समझा जा सकता है तथा साक्षात् सिद्ध के रूप मे उनका ध्यान करने वालो की सभी मनोकामनाएँ भी पूर्ण होती हैं।

ऐसा एक नियम है कि किसी भी निराकार वस्तु का परिचय कराना हो तो उसे साकार बनाकर ही किया जा सकता है। इसके लिए प्रसिद्ध दृष्टान्त सभी प्रकार की लिपियो का है। अपने मन के आशय को दूसरे के शब्दो द्वारा स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है और ये शब्द जिन वर्णों के बने होते है उन वर्णों को भिन्न-भिन्न आकार देने से ही उनके अर्थ का स्पष्ट ज्ञान कराया जाता है। वर्णो को क, ख, ग, घ अथवा A, B, C, D आकार नही दिया जावे तथा सबकी आकृति एक समान कर दी जाय तो किसी को भी बोध हो सकता है क्या ? नही। इसलिये निराकार वस्तु का स्पष्ट बोध उसे आकार प्रदान किये बिना नही कराया जा सकता।

प्रश्न ३६—इस युग मे बुद्धिजीवी लोग मूर्ति को नहीं मानते हैं, केवल जड लोग ही मानते हैं, क्या यह बात ठीक है ?

उत्तर—यह वात सर्वथा असत्य है। किसी भी काल के वुद्धिमान् लोगों का कार्य मूर्ति को माने सिवाय चलता ही नहीं। कोई प्रत्यक्ष रूप से मानते है और कोई परोक्ष रूप से। सभी अपने-अपने धर्मोपदेशकों को मानते हैं। वे देहधारी होते है और इसलिए उनका आकार भी होता है। अपने मत के उपदेशक को पहचानने के लिए उनके देहाकार का उपयोग किये बिना क्या उनका काम चलता है? नहीं चलता।

यूरोप, अमेरिका, एशिया तथा अफ्रीका आदि भिन्न-भिन्न खण्डों तथा उनमें वसे विभिन्न नगरों, नदियों, पर्वतों आदि का ज्ञान देने के लिए प्रत्येक मनुष्य को उन-उन देशों के नक्शों आदि का आलम्वन लेना ही पड़ता है। किसी भी नए घर, हाट, हवेली, दुकान, महल अथवा गढ़ को वनाते समय उसके पूर्व उसका प्लान तैयार करना ही पड़ता है। यह मूर्ति नही तो और क्या है?

प्रत्येक देश के वुद्धिमान् लोगों को इन आकारों का आश्रय लेना ही पड़ता है, फिर भी केवल देवमूर्ति सम्बन्धी वाधा उठाने में आती है, यह केवल अज्ञानता अथवा धर्मद्वेष का ही परिणाम है। हम देख आये है कि सम्पूर्ण ज्ञान निराकार श्रुत है और वह केवल उसके अक्षरों की आकृति से ही प्राप्त किया जा सकता है।

प्रत्येक धर्मानुयायी शास्त्र तथा माला को तो मानते ही हैं। जैसे वचन की स्थापना शास्त्र है वैसे माला भी अपनी-अपनी मानी हुई इष्ट वस्तुओं की अथवा उनके गुणों की स्थापना ही है। अन्यथा संख्याविशेष मणकों की ही माला होनी चाहिए, ऐसा नियम नही हो सकता।

प्रत्येक मत वाले अपने इष्टदेव को पूजने हेतु किसी-न-किसी प्रकार के आकार को मानते ही हैं, अब इस बात को दूसरे ढग से स्पष्ट करें।

ईसाइयो मे रोमन केथोलिक ईसा की मूर्ति को मानते है। प्रोटेस्टेन्ट ईसा की स्मृति तथा उन पर की श्रद्धा को जीवित रखने के लिए उनको दी हुई सूली के निशान क्रोस (✝) को हमेशा अपने पास रखते हैं। ज्ञान की स्थापना रूप बाइबिल का आदर करते हैं, अपने पूज्य पादरियो के चित्र अपने पास रखते हैं तथा उनकी प्रतिमाओ, पुतलो तथा कब्रो का बडा आदर करते है।

मुसलमान नमाज के समय पश्चिम मे काबा की तरफ मुँह रखते हैं। क्या खुदा पश्चिम के सिवाय अन्य दिशा मे नही? तो फिर पश्चिम मे मुँह रखने की क्या जरूरत? काबा की यात्रा पश्चिम दिशा मे होती है इसलिए पश्चिम की ओर नजर रक्खी जाती है। तब फिर इसे भी खुदा की स्थापना ही माना जाय। मक्का मदीना हज करने जाते हैं तथा वहाँ काले पत्थर का चुम्बन करते है, टेढे होकर नमन करते हैं, प्रदक्षिणा देते हैं और उस तरफ दृष्टि स्थिर रखकर नमाज पढते है। उसकी यात्रा के लिए हजारो रुपये खर्च करते हैं। उस पत्थर को पापनाशक मानकर उसका खूब सम्मान करते हैं।

जब अनघड पत्थर भी ईश्वर तुल्य सम्मान के योग्य है तथा उसके सम्मान से पापो का नाश होता है तो परमात्मा के साक्षात् स्वरूप की बोधक प्रतिमाएँ ईश्वर तुल्य क्यो नही? उनका

आदर, सम्मान व भक्ति करने वालों के पापों का नाश क्यों नहीं होगा ? क्या परमेश्वर सर्वत्र नही है कि जिससे मक्का मदीना जाना पड़ता है। अतः मानना पड़ेगा कि मन की स्थिरता के लिए मूर्ति के रूप में अथवा अन्य किसी रूप में स्थापना को मानने की आवश्यकता होती ही है।

मुस्लिम तावूत (ताजिया) वनाते है, वह भी स्थापना ही है, उसे लोभान का धूप कर पुष्प-हार आदि चढ़ाकर अच्छे ढंग से उसका आदर करते हैं। शुक्रवार को शुभ दिन मानकर सामान्य मस्जिद में तथा ईद के दिन वड़ी मस्जिद में जाकर नमाज़ पढ़ते हैं। वे मस्जिदे भी स्थापना ही हैं। कुरान शरीफ़ को खुदा का वचन मानकर सिर पर चढ़ाते है, वह भी स्थापना ही है। औलिया, फकीर, मीरां साहव, ख्वाजा साहव आदि दरगाहों की यात्रा करते है तथा वहाँ स्थित मजारों पर पुष्पहार, मेवा, मिठाई आदि चढ़ाकर वन्दन-पूजन आदि करते हैं तो वह भी स्थापनातुल्य नहीं तो और क्या है ? मस्जिदों, मक्का-मदीना, फकीरों आदि की तस्वीर खिचवाकर अपने पास रखते है, वह भी स्थापना ही है।

इस प्रकार कई प्रकार से मुसलमान भी अपनी मानी हुई पूज्य वस्तुओं की मूर्ति को एक समान मान देते है।

पारसी लोग अग्नि को मानते है और यह भी एक प्रकार की स्व—इष्ट देव की स्थापना ही है।

नानकपंथी गुरु नानक के पश्चात् उनकी गद्दी पर बैठने वाले जितने भी गद्दीपति हुए उन सबकी लिखी पुस्तकों को परमेश्वर तुल्य मान कर भक्ति करते है। ग्रन्थ को विराजमान करते समय

वडे-वडे जुलूम निकालते हैं, सुसज्जित भवनो मे ऊँचे ग्रासन पर रखकर उनके समक्ष नाट्य ग्रादि करते हैं तथा उनका रात-दिन गुणगान करते हैं। पुस्तकें भी ग्रक्षरो की स्थापना ही है।

कवीरपथी कवीर की गद्दी को पूजते है। कोई उनकी पादुकाग्रो को पूजता है ग्रौर सभी उनकी रचित पुस्तको को सिर पर चढाते है।

दादूपथी दादूजी की स्थापना तथा उनकी वाणी रूप ग्रन्थ को पूजते हैं। समाधि-स्थल वनवाकर उसमे गुरु के चरणो को प्रतिष्ठित करते हैं ग्रौर उनकी पूजा करते हैं।

वेदो मे भी मूर्तिपूजा के ग्रनेक पाठ हैं। ग्रत ग्रार्यसमाजियो का मूर्ति का खण्डन करना सर्वथा ग्रनुचित है। उनके स्वामी दयानन्द शरीरधारी मूर्तिमय थे, वेद-शास्त्रो की ग्रक्षर रूप मे स्थापना को वे मानते थे तथा स्वरचित सत्यार्थप्रकाश ग्रादि पुस्तको मे ग्रपनी वाणी की ग्राकृतियो द्वारा ही वोध करते तथा करवाते थे। इन ग्राकृतियो का ग्राश्रय यदि नही लिया होता तो किस तरह ग्रपने मत की स्थापना कर सकते थे?

जिस मूर्ति ग्रथवा ग्राकृति का ग्राश्रय लेकर ग्रपना काम निकाला उसी मूर्ति का ग्रनादर करना वुद्धिमानी का काम नही है। दयानन्द यदि मूर्ति को नही मानते होते तो ग्रपने सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ मे ग्रग्निहोत्र समझाने के लिये थाली, चम्मच ग्रादि के चित्र खीचकर ग्रपने भक्तवर्ग को समझाने का प्रयत्न क्यो करते?

जो वात एक साधारण चित्रकार भी समझ सकता है, उसे समझने के लिए उनके विद्वान् कहलाने वाले शिष्य भी क्या असमर्थ थे ? तो फिर महान् ईश्वर तथा उसका स्वरूप, ईश्वर की मूर्ति विना वे किस प्रकार समझ सकते थे ? स्वामीजी की तस्वीर उनके भक्तों द्वारा स्थान-स्थान पर रखने मे आती है। यदि ऐसे ससारस्थित व्यक्ति की भी तस्वीर के रूप में रहने वाली मूर्ति के दर्शन से स्वार्थ साधा जा सकता है, ऐसा मानते हो तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा गुरु के भी गुरु ऐसे परमेश्वर की मूर्ति के दर्शन आदि से स्व-इष्ट नही सावा जा सके, ऐसा कैसे माना जा सकता है ?

आर्यसमाजी भी अग्नि को पूजते है। उसमें घी आदि डालकर होम करते है तो क्या वह अग्नि उनकी दृष्टि में जड़ नहीं है ? सूर्य के सामने खड़े रहकर 'ईश्वर-प्रार्थना' करते हैं तो वह सूर्य आदि क्या जड़ नही है ? तव फिर परमेश्वर की मूर्ति से दूर क्यो भागते है ? मूर्ति कृत्रिम है और सूर्य, अग्नि आदि कृत्रिम नहीं, ऐसा कहते हो तो उनके गुरुओ का वेश कृत्रिम है या अकृत्रिम ? शास्त्र कृत्रिम है या अकृत्रिम ? उनको आदर कैसे देते हो ? अतः जो वस्तु पूजनीय है वह चाहे कृत्रिम हो या अकृत्रिम उसको पूजना ही चाहिए, ऐसी सवके अन्तःकरण की पुकार है।

इस प्रकार प्रत्येक पंथ के अनुयायी अपनी-अपनी पूजनीय वस्तुओ के आकार की किसी-न-किसी ढंग से पूजा करते ही है। इससे प्रतीत होता है कि मूर्तिपूजा बालक से लगाकर पण्डित तक सभी को मान्य है।

प्रश्न ३७—गुरु साक्षात् रूप में उपदेश देते हैं वैसे मूर्ति कभी

उपदेश नहीं देती अथवा देने वाली नहीं तो फिर साक्षात् गुरु को छोडकर जड मूर्ति की उपासना करने से क्या लाभ ?

उत्तर—सबसे पहले यह समझना चाहिए कि गुरु भी उपदेश किसको दे सकते हैं ? जो शून्य हृदय वाले हैं, उन्हे गुरु भी उपदेश कैसे दे सकते हैं ? गुरु का उपदेश समझने के लिए जैसे पहले शास्त्राभ्यास करना पडता है तथा समझने की शक्ति प्राप्त करनी पडती है और बाद मे ही वह समझा जाता है, वैसे ही मूर्तिपूजा के लिए भी जिसकी मूर्ति की पूजा करनी हो उसके गुणो का स्वरूप समझकर फिर उसकी पूजा की जाय तो लाभ क्योकर नही होगा ? अवश्य होगा।

फिर—'गुरु उपदेश देते हैं व मूर्ति उपदेश नहीं देती'—इस कारण ही यदि गुरु पूजनीय हो और मूर्ति पूजनीय न हो तो स्वर्गवासी सभी गुरु अपूजनीय ही बनेगे, क्योकि वे उपदेश तो देते नही है। तो फिर उनको भी हाथ जोडना या नमस्कारादि करना छोड देना पडेगा।

आगे चलकर कहा जाय कि गुरु उपदेश क्यो देते है ? क्या उपदेश द्वारा स्व-पर-हित साधकर मोक्ष-प्राप्ति के लिए ? यदि उपदेश देने मे गुरुओ का यही ध्येय हो तो मोक्षप्राप्ति के पश्चात् अशरीरी अवस्था मे वे किस प्रकार उपदेश दे सकेंगे ? इससे तुम्हारी दृष्टि मे मोक्ष मे जाने के बाद वे अपूज्य होंगे और उतने ही पूज्य रहेंगे जितने कि मोक्ष के इरादे अर्थात् अशरीरी बनने के इरादे से उपदेश न दें और केवल इस चतुर्गति रूप ससार मे सदा काल भटकने वाले बने रहे, इस इरादे से उपदेश दें। क्योकि इसके बिना उनके द्वारा सदा काल बोध नही दिया जा सकता

और यदि वे बोध न दें तो तुम्हारी दृष्टि से पूजनीय नहीं गिने जायेगे। परन्तु बोध देने के लिए आहार लेना पड़े, निहारादि करना पड़े, वे भी तुम्हारी दृष्टि में पूजनीय और मोक्ष में जाने के बाद अनाहारी बनने वाले पूज्य नही।

'उपदेश करें वे ही उत्तम' ऐसा मानने पर अन्त में, आहार करे वह उत्तम और आहार नही करे वह उत्तम नही'—ऐसा मानने का प्रसग आ पड़ेगा। अतः सदुपदेशादि करें वे तो उत्तम हैं ही परन्तु जो ऐसे शुभ कार्य करके निवृत्त बन चुके है वे तो उनसे भी उत्तम हैं, ऐसा मानना ही चाहिए।

'मूर्ति उपदेश नही देती अतः पूजनीय नही और गुरु उपदेश देते है अतः पूजनीय है' ऐसी अज्ञानपूर्ण बातें करने वाले तत्त्व को नही समझते। उपदेशादि देकर जो धन्य बन चुके हैं, ऐसे सिद्ध भगवन्तों की मूर्ति तो उपदेश देने वाले गुरुओं से भी अधिक पूजनीय है क्योंकि गुरुजन उनका आलम्बन लेकर ही गुरु बन सके है। जो सिद्ध भगवन्तों की पूजा करने से इन्कार करते है उनके समान कृतघ्न इस जगत् में दूसरा कोई भी नहीं।

प्रश्न ३८—बहुत लोग कहते हैं कि केवल मूलसूत्र को मानना चाहिए, टीका आदि पीछे से बनी हैं अतः उनको नहीं मानना चाहिए। तो इसमें तथ्य क्या है?

उत्तर—मूलसूत्रों में कहा है कि **'गणहरा गंथंति अरिहा भासइ।'** श्री गणधर भगवन्त सूत्र को गूंथते है और श्री अरिहन्त भगवन्त अर्थ कहते है। केवल मूलसूत्र को मानने का कहने वाले छद्मस्थ गणधर भगवन्तों का वचन मानने को कहते है तथा केवलज्ञानियों द्वारा बताये हुए अर्थ जिनमें भरे हुए

है ऐसे टीका, चूर्णि, भाष्य तथा निर्युक्ति आदि शास्त्रो को मानने से इन्कार करते है। छद्मस्थ गणधरो का कहा मानना और केवलज्ञानी भगवान का कहा नही मानना, क्या यह उचित है ? इस कारण शास्त्रो मे स्थान-स्थान पर निर्युक्ति आदि को मानने के लिये उपदेश दिया है। कहा है कि—

सुतत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमोसिओ भणिओ।
तइयो य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगो ॥ ३ ॥

अनुयोग अर्थात् व्याख्यान के तीन प्रकार है। सर्वप्रथम केवल सूत्र और उसका अर्थ, दूसरा अनुयोग निर्युक्ति मे मिश्रित तथा तीसरा भाष्य-चूर्णि आदि सभी से। इस प्रकार अनुयोग अर्थात् अर्थ कहने की विधि तीन प्रकार की है।

सूत्र तो केवल सूचना रूप होते है। उनका विस्तृत विवरण तो पचागी से ही मिलता है। जो पचागी को मानने से इन्कार करते हैं वे भी गुप्त रूप से टीका आदि देखते हैं, तभी उनको अर्थ का पता लगता है।

और शास्त्र कहते हैं कि दस पूर्वधर के वचन सूत्र तुल्य होते है। निर्युक्तियो के रचयिता श्री भद्रबाहुस्वामीजी चौदह पूर्वधर हैं। भाष्यकार श्री उमास्वातिजी वाचक पाँच सौ प्रकरणो के रचने वाले दश पूर्वधर हैं। श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी पूर्वधर हैं। इसलिए उनके वचन सभी प्रकार से मानने योग्य हैं। चूर्णिकार भी पूर्वधर हैं। टीकाकार श्री हरिभद्रसूरि महाराज आदि भी भवभीरु, बुद्धिनिधान तथा देवसान्निध्य वाले है। अत उनके वचनो को प्रमाणरहित मानना भयकर अपराध है।

प्रत्येक भवभीरु आत्मा का यह कर्त्तव्य है कि इन प्रामाणिक महापुरुषों के एक भी वचन के प्रति अज्ञानवश भी कोई दुर्भाव न आने पावे इसके लिये सम्पूर्ण रूप से सतर्क रहे।

प्रश्न ३९- आगम पंतालीस कहे जाते हैं, फिर भी कई लोग बत्तीस ही मानते हैं तो क्या यह उचित है ?

उत्तर—नही। बत्तीस आगम मानने वाले भी **श्री नंदीसूत्र** को मानते हैं, जिसमें तमाम सूत्रों की सूची दी गई है। उसमें दिये हुए अनेक सूत्रों मे से केवल बत्तीस ही मानना और दूसरों को नही मानना, इसका क्या कारण है ? बत्तीस के सिवाय अन्य नये लिखे हुए है, ऐसा कहा जाय तो ये बत्तीस भी नये लिखे हुए नही हैं, इसका क्या प्रमाण है ? यदि परम्परा प्रमाण है तो इसी प्रामाणिक परम्परा के आधार पर दूसरे सूत्रों को भी मानना चाहिए।

बत्तीस सूत्रों के मानने वालों को इन बत्तीस में नही कही हुई ऐसी भी बहुत सी बातें माननी पड़ती हैं। बीस विहरमान का अधिकार, धन्ना-शालिभद्रचरित्र, नेम-राजुल के भव, रामायण आदि बहुतसी वस्तुएँ बत्तीस आगमों में नहीं हैं, फिर भी उनको माननी पड़ती है। बत्तीस सिवाय के अन्य सूत्र परस्पर नही मिलते, इसलिए नही मानते यदि ऐसा कहा जाय तो बत्तीस में भी कई स्थानों पर विरोध दिखाई देता है, इसका क्या कारण ? यह विरोध निर्युक्ति, भाष्य और टीका आदि को माने बिना नही हट सकता।

कितने ही वचन उत्सर्ग के होते हैं व कितने ही अपवाद के। कितने ही विधिवाक्य होते हैं व कितने ही अपेक्षावाक्य। कितने

ही पाठान्तर, कितने ही भयसूत्र और कितने ही वर्णनसूत्र होते हैं। इस प्रकार सूत्र अनेक भेद वाले होते है। उनके गम्भीर आशय को समुद्र के समान बुद्धि के स्वामी टीकाकार आदि ही समझ सकते हैं, अन्य तो उनके विषय का स्पर्श भी नही कर सकते।

इसके उपरान्त भी तुच्छ बुद्धि वाले लोग अपनी बुद्धि की कल्पना से चाहे जो कहे, पर ऐसे लोग जो कुछ भी कहते हैं उसे असत्य और अप्रामाणिक ही समझना चाहिए।

प्रश्न ४०—श्री जिनप्रतिमा सम्बन्धी उल्लेख कौन-कौन से सूत्रो मे हैं ?

उत्तर—सूत्रो मे जिनप्रतिमा और उनकी पूजा के सम्बन्ध मे सैकडो उल्लेख प्राप्त होते हैं।

श्री महाकल्पसूत्र, श्री भगवतीसूत्र, श्री उववाई सूत्र, श्री आचाराग, श्री ज्ञातासूत्र, श्री उपासकदशागसूत्र, श्री कल्पसूत्र, श्री व्यवहारसूत्र श्री आवश्यकसूत्र, श्री शालिभद्रचरित्र, श्री रायपसेणीसूत्र तथा अन्य महत्त्वपूर्ण शास्त्रो के कतिपय उल्लेखो को आगामी पृष्ठो मे अर्थ सहित दिया जा रहा है।

यदि प्रतिमापूजन का प्रचलन न होता तो मूलसूत्रो व अन्य ग्रन्थो मे इसका उल्लेख क्यो किया जाता ? इस तथ्य पर पाठक स्वय विचार करें।

शास्त्र-दर्पण में जिन-पूजा

(१)

श्री महाकल्पसूत्र में एक स्थान पर श्री गौतमस्वामी पूछते है—

से भयवं तहारूवे समणे वा माहणे वा चेइयघरे गच्छेज्जा ?

हंता ! गोयमा ! दिणे दिणे गच्छेज्जा । से भयवं जत्थ दिणे न गच्छेज्जा तम्रो किं पायच्छित्तं हवेज्जा ? गोयमा ! पमायं पडुच्च तहारुवे समणे वा माहणे वा जो जिणघरं न गच्छेज्जा तम्रो छट्ठं अहवा दुवालसमं पायच्छित्तं हवेज्जा ।

से भयवं समणोवासगस्स पोसहसालाए पोसहिए पोसह-बंभयारी किं जिणहरं गच्छेज्जा ?

हंता ! गोयमा ! गच्छेज्जा ?

से केणट्ठेणं गच्छेज्जा ?

गोयमा ! णाणदंसणचरणट्ठाए गच्छेज्जा ।

जे केइ पोसहसालाए पोसहवभयारी जम्रो जिणहरे न गच्छेज्जा तम्रो पायच्छित्त हवेज्जा ?

गोयमा ! जहा साहू तहा भाणियव्व छट्ठ अहवा दुवालसम पायच्छित्त हवेज्जा ।

"हे भगवन् ! तथारूप श्रमण अथवा माहण तपस्वी चैत्यघर अर्थात् जिनमन्दिर मे जावें ?" भगवान् कहते हैं—"हाँ गौतम ! सर्वदा प्रतिदिन जावें ।"

गौ०—"हे भगवन् ! यदि वह नित्य नही जावे तो प्रायश्चित्त आता है ?"

भ०—'हाँ गौतम ! प्रायश्चित्त आता है ?"

गौ०—'हे भगवन् ! क्या प्रायश्चित्त आता है ?"

भ०—"हे गौतम ! प्रमाद के वश होकर तथारूप श्रमण अथवा माहण यदि जिनमन्दिर नही जावें तो छट्ठ (दो उपवास) का प्रायश्चित्त आता है अथवा पांच उपवास का प्रायश्चित्त होता है ।"

गौ०—"हे भगवन् ! जिनमन्दिर क्यो जाते हैं ?"

भ०—"हे गौतम ! ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की रक्षा के लिये जाते हैं ?"

गौ०—हे भगवन् ! यदि कोई श्रमणोपासक श्रावक, पौपधशाला मे पौषध मे रहते हुए ब्रह्मचारी जिनमन्दिर नही जावे तो प्रायश्चित्त आता है ?"

भ० —"हाँ, गौतम ! प्रायश्चित्त आता है। हे गौतम ! जिस प्रकार साधु को प्रायश्चित्त, वैसे ही श्रावक के लिए भी प्रायश्चित्त समझना। वह प्रायश्चित्त छट्ठ अथवा पाँच उपवास का होता है।"

(२)

श्री महाकल्प सूत्र

"तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव तुंगीयाए नयरीए बहवे समणोवासगा परिवसंति संखे, सयगे, सिलप्पवाले, रिसिदत्ते, दमगे, पुक्खली, निबद्धे, सुपइट्ठे, भाणुदत्ते, सोमिले, नरवम्मे, आणंदकाम-देवाइणो जे अन्नत्थ गामे परिवसंति इड्ढा दित्ता विच्छिन्नविपुलवाहणा जाव लद्धट्ठा, गहियट्ठा चाउद्दसट्ठ-मुद्दिट्ठपुण्णमासिण सु पडिपुन्नं पोसहं पालेमाणा निग्गंथाण य निग्गंथीण य फासुएणं एसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं जाव पडिलाभेमाणा चेइयालएसु तिसंज्झं चंदणपुप्फ-धूव-वत्थाईहिं अच्चणं कुणमाणा जाव विहरंति से तेणट्ठेणं गोयमा ! जो जिणपडिमं न पुएइ सो मिच्छदिट्ठी जाणियव्वो, मिच्छ-दिट्ठिस्स नाणं न हवइ, चरणं न हवइ, मुक्खं न हवइ, सम्म-दिट्ठिस्स नाणं चरणं मुक्खं च हवइ, से तेणट्ठेण गोयमा ! सम्मदिट्ठिसड्ढेहिं जिणपडिमाणं सुगंधपुप्फचंदणविलेवणेहिं पूया कायव्वा।"

"तुंगी, सावत्थी आदि नगरों के श्रावक शंखजी, आनंद, कामदेव आदि ने त्रिकाल श्री जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा की है तथा जिन पूजा करने वाला सम्यग्दृष्टि है, नहीं करने वाला मिथ्यादृष्टि है तथा पूजा मोक्ष के लिये की जाती है।" ऐसा उपर्युक्त पाठ **श्री महाकल्प सूत्र** में है जिसका भावार्थ निम्नानुसार है—

"उस समय तुगीया नगरी मे बहुत से श्रावक रहते थे। १ शख, २ शतक, ३ सिलप्पवाल, ४ ऋषिदत्त, ५ द्रमक, ६ पुष्कली, ७ निबद्ध, ८ भानुदत्त, ९ सुप्रतिष्ठ, १० सोमिल, ११ नरवर्म, १२ आनद और १३ कामदेव प्रमुख जो दूसरे गाँव मे रहते हैं, धनवान, तेजवान, विस्तीर्ण व बलवान हैं। जिन्होने सूत्र मे अनेक अर्थ प्राप्त किये हैं तथा सूत्र के अर्थ ग्रहण किये हैं तथा चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा की तिथियो के दिन प्रतिपूर्ण पौषध करने वाले, साधु-साध्वी को प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खादिम, स्वादिम का प्रतिलाभ करते विचरते हैं, जिनमन्दिरो मे जिनप्रतिमाओ की त्रिकाल चन्दन, पुष्प, वस्त्रादिक द्वारा पूजा करते हुए निरन्तर विचरण करते है।

हे पूज्य! प्रतिमा-पूजन का उद्देश्य क्या?

'हे गौतम! जिनप्रतिमा को जो पूजता है वह सम्यग्दृष्टि, जो नही पूजता वह मिथ्यादृष्टि जानना। मिथ्यादृष्टि को ज्ञान नही होता, चारित्र नही होता, मोक्ष नही होता, सम्यग्दृष्टि को ज्ञान, चारित्र तथा मोक्ष होता है। इस कारण हे गौतम! सम्यग्दृष्टि वाले को जिनमन्दिर मे जिनप्रतिमा की चन्दन, धूप आदि द्वारा पूजा करनी चाहिए।

श्री नन्दीसूत्र मे इस महाकल्पसूत्र का उल्लेख किया हुआ होने से मानने लायक है फिर भी नही माने तो उसे नन्दीसूत्र की आज्ञाभग का दोष लगता है।

(३)

श्री भगवती सूत्र मे तुगीया नगरी के श्रावको के अधिकार मे कहा है कि—

"ण्हाया कय वलिकम्मा।"

अर्थात्—"स्नान करके देवपूजा की"

(४)

श्री उववाई सूत्र में चम्पानगर के वर्णन में कहा है कि—

"बहुलाइं अरिहंतचेइआइं"

अर्थात्—'अरिहन्त के बहुत से जिनमन्दिर हैं' तथा शेष नगरों में जिनमन्दिर सम्बन्धी चम्पानगर का निर्देश है। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में चंपानगर के साथ-साथ दूसरे शहरों में भी गली-गली में मन्दिर थे।

(५)

तथा श्री **आवश्यक** के मूल पाठ में कहा है कि—

तत्तो य पुरिमताल वग्गुर ईसाण अच्चए पडिमं।
मल्लि जिणायणपडिमा उन्नाए वंसि बहुगोठी॥ १॥

भावार्थ—पुरिमताल नगर के रहने वाले वग्गुर नाम के श्रावक ने प्रतिमा-पूजन के लिये श्री मल्लिनाथ स्वामी का मन्दिर बनवाया।

(६)

श्री भगवती सूत्र में जंघाचारण और विद्याचारण मुनियों द्वारा श्री जिनप्रतिमा को वंदन करने का अधिकार बीसवे शतक के नवें उद्देश्य में कहा है—

"नंदीसरदीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता इहमागच्छइ इहमागच्छइत्ता, इह चेइआइं वंदइ॥"

भावार्थ—(जघाचारण व विद्याचारण मुनि) श्री नन्दीश्वर द्वीप मे समवसरण करते हैं। उसके बाद वहाँ के शाश्वत चैत्यो (जिनमन्दिरो) की वन्दना करते है। वन्दना करके यहाँ भरतक्षेत्र मे आते है और आकर यहाँ के चैत्यो (अशाश्वत प्रतिमाओ) की वन्दना करते हैं।

(७)

श्री भगवतीसूत्र मे अमरेन्द्र के अधिकार मे तीन शरण कहे हैं। वे नीचे माफिक है—

अरिहते वा अरिहतचेइयाणि वा भावीअप्पणो अणगारस्स

भावार्थ—(१) श्री अरिहत देव (२) श्री अरिहत देव के चैत्य (प्रतिमा) और (३) भावित है आत्मा जिनकी ऐसे साधु, इन तीनो की शरण जानना।

(८)

श्री आचाराग के प्रथम उपाग श्री उववाई सूत्रानुसार अम्बड श्रावक तथा उसके सात सौ शिष्यो ने अन्य देव गुरु की वन्दना का निषेध कर श्री जिनप्रतिमा तथा शुद्ध गुरु को नमस्कार करने का नियम लिया है। वह सूत्र-पाठ निम्नाकित है—

"अवडस्स परिवायगस्स नो कप्पइ अन्नउत्थिए वा अन्न-उत्थिय देवयाइ वा अन्नउत्थिअपरिग्गहियाइ अरिहतचेइयाइ वा वदित्तए वा नमसित्तए वा, नन्नत्थ अरिहते वा अरिहत चेइआइ वा"

अन्य तीर्थी के प्रति अथवा अन्य तीर्थो के देवो के प्रति अथवा

अन्य तीर्थियों ने ग्रहण किये हों ऐसे अरिहन्त के चैत्य (प्रतिमा) के प्रति वन्दना, स्तवना तथा नमस्कार करना अम्वड संन्यासी के लिए वर्जित है परन्तु अरिहन्त अथवा अरिहन्त की प्रतिमा को नमस्कार करना वर्जित नही है।

(६)

छठे अंग श्री ज्ञातासूत्र में द्रौपदी श्राविका के सत्रह भेदों की द्रव्य भाव पूजा में **"नमोत्थुणं अरिहंताणं"** कहने का पाठ आता है—

"तए णं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, मज्जणघरं अणुप्पविसइ, ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगल-पायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं परिहिया मज्जणघराओ पडिणिक्खमइ, जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जिणघर अणुप्पविसइ अणुपविसइत्ता आलोए जिणपडिमाणं, पणामं करेइ, लोमहत्थयं परामुसइ एवं जहा सुरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइ तहेव भाणिअव्वं जाव धुवं डहइ, धुवं डहइत्ता वामं जाणु अंचेइ, अंचेइता दाहिणजाणु धरणितलंसि निहट्टु, तिखुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ निवेसेइत्ता ईसिरपच्चुण्णमइ २ करयल जाव कट्टु एवं वयासी-नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जावसंपत्ताणं वंदइ णमंसइ जिणघराओ पडिणिक्खमइ।"

इसका भावार्थ इस प्रकार है। इसके बाद वह द्रौपदी नाम की राजकन्या स्नान गृह के स्थान पर आती है और आकर मज्जनघर में प्रवेश करती है। प्रवेश कर पहले स्नान करती है। फिर बली कर्म अर्थात् घरमन्दिर की पूजा करके मन की शुद्धि के

लिए कौतुक मगल करने वाली वह, शुद्ध दोपरहित पूजन योग्य, वडे जिनमन्दिर मे जाने योग्य प्रधानवस्त्र पहनकर मज्जन घर मे से निकलती है और निकलकर जहां जिनमन्दिर है उस स्थान पर आती है। आकर जिनघर मे प्रवेश करती है तथा तत्पश्चात् मोरपख द्वारा प्रमार्जन करती है। वाकी जैसे सूर्याभदेव ने प्रतिमा-पूजन की उसी विधि से सत्रह प्रकार से पूजा करती है, धूप करती है। धूप करके वाया घुटना ऊपर रखती है व दाहिना घुटना जमीन पर स्थापित करती है। तीन वार पृथ्वी पर मस्तक झुकाती है तथा फिर थोडी नीचे झुककर, हाथ जोडकर, दस नाखून शामिल कर, मस्तक पर अजलि कर ऐसा कहती है—'अरिहन्त भगवान को नमस्कार हो' जब तक सिद्धगति को प्राप्त हुए तव तक अर्थात् सम्पूर्ण शक्रस्तव वोलती है। वन्दन-नमस्कार करने के वाद मन्दिर मे से वाहर निकलती है।

(मज्जन घर मे द्रौपदी ने घर-मन्दिर की पूजा की है। उसके वाद अच्छे वस्त्र पहन कर वाहर मन्दिर मे गई है। इसी प्रकार अव भी कई श्रावक करते हैं)

(१०)

श्री उपासकदशाग सूत्र मे आनन्द श्रावक द्वारा जिनप्रतिमा के वन्दन का पाठ है। वह निम्नलिखित है—

"नो खलु मे भते ! कप्पइ अज्जप्पभिइ अन्नउत्थिए वा, अन्नउत्थियदेवयाणि वा, अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि अरिहत-चेइयाणि वा वदित्तए वा नमसित्तए वा"

भावार्थ—हे भगवन् ! मेरे आज मे लेकर अन्यतीर्थी

(चरकादि), अन्यतीर्थी के देव (हरि-हरादि) तथा अन्य तीर्थियों के द्वारा ग्रहण किये हुए अरिहन्त के चैत्य (जिन प्रतिमा) आदि को वन्दन-नमस्कार करना वर्जनीय है ।

अन्य देव तथा गुरु का निषेध होने पर जैनधर्म के देव-गुरु स्वयमेव वन्दनीय हो जाते हैं । फिर भी कोई कुतर्क करे तो उसे पूछे कि "आनन्द ने अन्य देवों की, चारों निक्षेपों से वन्दना का त्याग किया अथवा भाव निक्षेप से ?" अगर कहोगे कि 'अन्य देवों के चारों निक्षेपों का निषेध किया है' तब तो स्वतः सिद्ध हुआ कि अरिहन्त देव के चारों निक्षेप उसे वन्दनीय हैं । यदि अन्य देवों के भावनिक्षेप का निषेध करने का कहोगे तो उन देवों के शेष तीन निक्षेप अर्थात् अन्य देव की मूर्ति, नाम आदि आनन्द को वन्दनीय होगे और इस तरह करने से व्रतधारी श्रावक को दोष लगेगा ही । अन्य देव हरिहरादि कोई आनन्द के समय में साक्षात् मौजूद नहीं थे । उनकी मूर्तियाँ ही थीं, तो बताओ कि उसने किसका निषेध किया ? यदि कहोगे कि 'अन्य देवों की मूर्तियों का' तो फिर अरिहन्त की मूर्ति स्वतः सिद्ध हुई । जैसे किसी के रात्रिभोजन का त्याग करने पर उसे दिन में खाने की छूट अपने आप हो जाती है ।

इस पाठ में "चैत्य" शब्द का अर्थ "साधु" करके कितने ही लोग उलटा अर्थ लगाते हैं । उनसे पूछें कि—'साधु को अन्यतीर्थी किस तरह ग्रहण करे ? यदि जैन साधु को अन्य दर्शनियों ने ग्रहण किया हो अर्थात् गुरु माना हो और वेष भी बदल दिया हो तो वह साधु अन्य दर्शनी बन गया । फिर वह किसी भी प्रकार से जैन साधु नहीं गिना जा सकता । जैसे शुकदेव संन्यासी ने थावच्चा पुत्र के पास दीक्षा ली उससे वह जैन साधु

कहलाये पर जैन परिगृहीत सन्यासी नही कहलाये। वैसे ही साधु भी अन्यतीर्थी परिगृहीत नही कहलाते। अत चैत्य शब्द का अर्थ साधु करना सर्वथा गलत है।

तर्क—चैत्य शब्द का अर्थ यदि प्रतिमा करें तो उस पाठ मे आनन्द ने कहा है कि—'मैं अन्य तीर्थी को, अन्य देव को तथा अन्य तीर्थी के द्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमा को वन्दन स्तवना नही करू गा व दान नही दू गा। ऐसी दशा मे प्रतिमा के साथ बोलने का तथा दान देने का कसे सम्भव है ?'

समाधान—सूत्र का गम्भीर अर्थ गुरु विना समझना कठिन है। सूत्र की शैली ऐसी है कि जो शब्द जिस-जिस के साथ सम्भव हो उनको उनके साथ जोडकर उनका अर्थ करना चाहिए, नही तो अनर्थ हो जाय। इसमे अन्यदर्शी गुरु के लिए बोलने तथा दान देने का निषेध समझना व प्रतिमा के लिए वन्दन करने का निषेध समझना। यदि तीनो पाठो की अपेक्षा साथ मे लोगे तो तुम्हारे किये हुए अर्थ के अनुसार आनन्द का कथन नही मिलेगा क्योंकि उस समय हरिहरादि कोई देव साक्षात् रूप से विद्यमान नही थे। उनकी मूर्तियां थी। उनके साथ बोलने का तथा दान देने का अर्थ तुम्हारी मान्यतानुसार कैसे बैठेगा ?

(११)

सिद्धार्थ राजा के द्वारा की गई द्रव्यपूजा का वर्णन श्री कल्पसूत्र मे इस प्रकार है—

"तए ए सिद्धथे राया दसाहियाए ठिइवडियाए वट्टमाणीयए

सइए अ साहस्सिए अ, सयसाहस्सिए अ, जाए अ, लंभे पडिच्छ-माणे अ पडिच्छावमाणे अ एवं वा विहरइ"

भावार्थ —उसके बाद सिद्धार्थ राजा, दस दिन तक महोत्सव के रूप में कुल मर्यादा का पालन करते है जिसमें सौ, हजार अथवा लाख द्रव्य लगे, ऐसे याग—अरिहन्त भगवन्त की प्रतिमा की पूजा करते है, औरों से करवाते हैं तथा वधाई को स्वयं ग्रहण करते है तथा सेवको द्वारा ग्रहण करवाते हुए विचरण करते है।

शंका—सिद्धार्थ राजा ने यज्ञ किया था, पर पूजा कहाँ की थी ?

समाधान—सिद्धार्थ राजा श्री पार्श्वनाथ स्वामी के वारह व्रतधारी श्रावक थे, ऐसा **श्री आचारांग सूत्र** में कहा है। तो विचार करें कि घोड़े, वकरे आदि पशुवध का यज्ञ वे कभी करेंगे या करायेंगे ? **लंभ** अर्थात् वधाई। व्याकरण के आधार पर यज् शब्द **देव पूजयामीति वचनात्**, देवपूजावाची है। श्रावक तो जिनयज्ञ-पूजा करता है। परम सम्यक्त्वधारी श्रावक सिद्धार्थ राजा श्री जिनमन्दिर में द्रव्यपूजा करने से वारहवें देवलोक (किसी मत से चौथे देवलोक) में जाने का सूत्र में कहा है। यदि हिंसक यज्ञ करने वाले होते तो निश्चय ही नरक में जाने चाहिए, परन्तु सिद्धार्थ राजा के मोक्षगामी जीव होने का, श्री वीर परमात्मा ने फरमाया है। चौवीस तीर्थंकरों के माता-पिता निश्चय से मोक्षगामी जीव होते है।

(१२)

श्री व्यवहार सूत्र में कहा है कि साधु जिनप्रतिमा के सम्मुख आलोचना लेता है।

(१३)

श्री महानिशीथ सूत्र के चौथे अध्ययन मे श्री जिनमन्दिर बनवाने वाले को बारहवें देवलोक अर्थात् दान, शील, तप तथा भावना की आराधना से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल प्राप्त होता है, ऐसा फरमाया है।

काउपि जिणाययणेहिं, मडिय सव्वमेइणीवट्ट ।
दाणाइचउक्केण सड्ढो गच्छेज्ज अच्चुय जाव न परं ॥ १ ॥

भावार्थ—पृथ्वीतल को जिनमन्दिरो से सुसज्जित करके तथा दानादि चारो (दान, शील, तप और भाव) करके श्रावक अच्युत-बारहवें देवलोक तक जाता है, उससे ऊपर नही।

(१४)

पुन उसी सूत्र मे अष्ट प्रकार की पूजा आदि का विस्तार से वर्णन है। उसे जानने के इच्छुक लोगो को उसे देखना चाहिए।

(१५)

श्री आवश्यक सूत्र मे भरत चक्रवर्ती के श्री जिनप्रासाद बनवाने का उल्लेख है।

थूभसयभाउगाण चउवीस चेव जिणहरे कासी।
सव्वजिणाण पडिमा, वण्णपमाणेहिं निअएहिं ॥ १ ॥

अर्थ—एक सौ भाई के सौ स्तम्भ तथा चौबीस तीर्थंकर महाराज के जिनमन्दिर सारे तीर्थंकरो की उनके वर्ण तथा शरीर के प्रमाणवाली प्रतिमाएँ श्री अष्टापद पर्वत पर भरत राजा ने स्थापित की।

(१६)

श्री आवश्यक सूत्र में कहा है कि—

"अंतेउरे चेइयहरं कारियं पभावती ण्हाता, तिसंज्झं अच्चेइ, अन्नया देवी णच्चेइ, राया वीणं वायेइ"

भावार्थ—प्रभावती रानी ने अन्त:पुर में चैत्यघर (जिन-भवन) बनवाया। उस मन्दिर में रानी स्नान करके प्रात:काल, मध्याह्नकाल तथा सायंकाल त्रिकाल पूजन करती है। किसी समय रानी नृत्य करती है तथा राजा स्वयं वीणा वादन करता है।

(१७)

श्री शालिभद्र चरित्र जिसे प्राय: तमाम जैन मानते है, में कहा है कि—

शालिभद्र के घर में उनके पिता ने जिनमन्दिर बनवाया था तथा रत्नों की प्रतिमाएँ बनवाई थीं। वह मन्दिर अनेक द्वारों सहित, देवविमान जैसा बनाया गया था।

(१८-१९-२०)

श्री भगवती, श्री रायपसेणी और **श्री ज्ञातासूत्रादि** अनेक सूत्रों में श्रावकों के वर्णन में **"न्हाया कयबलिकम्मा।"** अर्थात् "स्नान करके देवपूजा करना" ऐसे उल्लेख हैं। **श्री भगवतीजी** में तुंगीया नगरी के श्रावक के अधिकार में कहा गया है कि—"श्रावक यक्ष, नाग आदि अन्य देवों को नही पूजे" तथा **श्री सूयगडांग सूत्र** में भी कहा है कि नागभूतयक्षादि तेरह प्रकार के अन्य देवों की प्रतिमा को पूजने से मिथ्यात्वपन प्राप्त होता है

तथा बोधिबीज का नाश होता है। इससे सिद्ध होता है कि श्री अरिहन्तदेव की प्रतिमा को पूजने से समकित की प्राप्ति होती है तथा बोधिबीज की रक्षा होती है। इस कारण "कयबलिकम्मा" पाठ से श्रावको को श्री जिनप्रतिमा की पूजा करनी चाहिए।

कितने ही "न्हाया कयबलिकम्मा" का "स्नान करके फिर पानी के कुल्ले किये" ऐसे शास्त्र के बिल्कुल विपरीत अर्थ करते हैं, जो असत्य है।

भावनिक्षेप से साक्षात् तीर्थकर को वन्दन-पूजन करने का जो फल है तथा सम्यक्त्व और ज्ञान सहित चारित्र पालने का जो फल सूत्र मे बताया है, वही फल श्री जिनप्रतिमा के वन्दन पूजन का कहा है। यावत् मोक्षप्राप्ति तक का बतलाया है।

(२१)

श्री दशाश्रुतस्कन्ध के दसवें अध्ययन मे कहा है कि श्री महावीर स्वामी राजगृही नगरी मे पधारे तब वन्दन करने जाने के लिए चेलणा रानी श्रेणिक राजा के पास आई और कहने लगी—(वह पाठ निम्नाकित है)—

"चिल्लणादेवी एव वयासी त महाफल देवाणुप्पिये! भगव महावीर वदामो, णमसामो सक्कारेमो सम्माणेमो, कल्लाण मगल चेइय पज्जुवासेमो तेण इह भवे य परभवे य हियाए सुहाए खमाए निस्सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ।"

भावार्थ—निश्चित! हे चिल्लणादेवी! उसका महाफल

उन प्रतिमाओं की अवगाहना जिनेश्वर समान है तथा सुधर्मा सभा में माणवक नामक चैत्य स्तम्भ है। उस स्तम्भ में वज्रमय पेटियाँ है। उनमें अनेक जिनेश्वरों की अस्थियाँ आदि स्थापित की हुई है।

हे देवानुप्रिय! वे जिनप्रतिमाएँ और दाढ़ाएँ सम्यग्दृष्टि के लिए अर्चन करने योग्य, वन्दन करने योग्य, नमस्कार करने योग्य, पूजन और सम्मान करने योग्य हैं तथा (वे प्रतिमाएँ) कल्याणकारी-मंगलकारी हैं अतः आपके लिए सर्वप्रथम यही कर्त्तव्य है और वाद में करने योग्य भी यही है। इसी में पहले और वाद में श्रेय है। आपको पहले और वाद में भी हितकारी, सुखकारी, क्षेमकारी, मोक्षकारी व परम्परा से शुभानुबन्धी होगा।

(२४)

सम्यग्दृष्टि सूर्याभदेव ने जिनप्रतिमा को नमस्कार कर, फल चढ़ाकर, अष्ट मगल का आलेखन कर, अनेक प्रकार से धूपादि कर स्तुति में शक्रस्तव **'नमोत्थुणं'** कहकर सत्रह प्रकार से पूजा की है। उसका विस्तृत वर्णन श्री रायपसेणी में है जो अतिविस्तृत होने से यहाँ नहीं लिखा है।

श्री महावीर प्रभु ने पूजा का फल बताते हुए कहा है कि—

"हियाए सुहाए खेमाए निस्सेयस्साए अणुगामित्ताए भविस्सइ।"

अर्थ—श्री जिनप्रतिमा की पूजा पूजक के हित के लिए, सुख के लिए, मोक्ष के लिए तथा जन्मान्तर में भी साथ में आने वाली है।

(२५)

श्री जीवाभिगम सूत्र मे विजयपोली तथा अन्य अनेक सम्यग्दृष्टि देवो के द्वारा की गई सत्रह प्रकार की पूजा का वर्णन है और उसका फल यावत् मोक्ष तक कहा है।

(२६)

श्री ज्ञातासूत्र मे तीर्थंकर गोत्र-बध के लिए बीस स्थानक कहे हैं। उनमे "सिद्धपद की आराधना करना" ऐसा फरमाया है। उन अरूपी सिद्ध भगवान का ध्यान-आराधन उनकी मूर्ति बिना हो ही नही सकता।

(२७)

श्री व्यवहार सूत्र मे कहा है कि—

"सिद्धवेयावच्चेण महानिज्जरा महापज्जवसाण चेवत्ति।"

सिद्ध भगवान की वैयावच्च करने से महानिर्जरा होती है अर्थात् मोक्ष मिलता है।

तर्क—सिद्ध भगवान की वैयावच्च तो नाम-स्मरण मे ही हो जाती है तो फिर मूर्ति का क्या प्रयोजन ?

उत्तर—नामस्मरण को तो गुणगान, कीर्तन, भजन, स्वाध्याय आदि कहते हैं, वैयावच्च नही। यदि वैयावच्च का अर्थ ऐसा करोगे तो श्री प्रश्नव्याकरण मे बालक की, वृद्ध की, रोगी की तथा कुलगणादि की दस प्रकार से साधु की वैयावच्च करनी चाहिये तो क्या केवल नामस्मरण से वैयावच्च हो जायेगी ? अथवा आहार-पानी, औषधि, अंगमर्दन, शय्या,

प्रश्न ४१—प्रतिमा को जिनराज के तुल्य मानना और उसे आभूषण आदि चढ़ाना, पुष्प, धूप, स्नान, विलेपनादि करना, क्या यह उचित है ? क्या यह क्रिया त्यागी को भोगी बनाने जैसी नहीं है ?

उत्तर—त्यागी और भोगी का अन्तर जो जानता है, वह ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता। अर्हन्त शब्द का व्याकरण की दृष्टि से अर्थ निम्नानुसार है—

> **अरिहंति वंदणनमंसणाइ, अरिहंति पूअसक्कारं।**
> **सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति॥**

अर्थ—जो वन्दन नमस्कार आदि के योग्य है, जो (इन्द्र आदि देवों के किये हुए आठ प्रातिहार्य रूप) पूजा एवं सत्कार के योग्य है और जो सिद्धि गति की प्राप्ति के योग्य है, उसे अरहन्त कहा जाता है। इस प्रकार अरहन्त नाम ही द्रव्यपूजा का सूचक है।

जिनके राग-द्वेष जड़मूल से उखड़ गये हैं, वे दूसरे के द्वारा की हुई पूजा से भोगी अथवा रागी कैसे बन सकते हैं ? राग की उत्पत्ति का कारण मोह-ममता है और वह सर्वथा नष्ट हो चुकी है, तो वे इसमें किस प्रकार लिप्त हो सकते हैं ? यदि पूजा से भोगी बन जायेंगे तो क्या निन्दा से निन्दनीय बन जायेंगे ? नहीं। पूजा अथवा निन्दा से उनकी महिमा बढ़ती-घटती नहीं। पूजा तथा निन्दा से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। पूजक और निन्दक पुरुष को ही वे क्रियाएँ शुभाशुभ फल देने वाली हैं। भगवान को केवल-ज्ञान होने के पश्चात् आठ प्रातिहार्य होने का **श्री समवायांग सूत्र** में विस्तृत वर्णन है—

(१) अशोक वृक्ष भगवान को छाया करता है।

(२) देवता जल-थल में उत्पन्न पचरंगी पुष्पों को घुटनों तक बरसाते हैं।

(३) आकाश में देवदुंदुभि बजती है।

(४) दोनों ओर चँवर दुलते हैं।

(५) प्रभु के बैठने के लिए रत्नजडित स्वर्ण-सिंहासन हमेशा साथ रहता है।

(६) रत्नमय तेज के अंबाररूप भामण्डल भगवान के पीछे रहता है।

(७) दिव्यध्वनिरूप प्रातिहार्य द्वारा मनोहर वीणावादन होता है।

(८) एक ऊपर दूसरा, ऐसे तीन छत्र प्रभु के सिर पर रहते हैं।

और लाखों, करोड़ों देव जय-जयकार की ध्वनि से स्तुति करते हुए साथ रहते हैं। देव समवसरण बनाते हैं, जिसमें चांदी का गढ और सोने के कंगूरे, सोने का गढ और रत्न के कंगूरे, रत्न का गढ और मणिमय कंगूरे होते हैं और बीस हजार सीढ़ियाँ एक तरफ होती हैं, भगवान रत्नमय सिंहासन पर विराजमान होकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके देशना देते हैं। शेष तीन दिशाओं में देवता भगवान की तीन मूर्तियाँ स्थापित करते हैं। इन दिशाओं से आने वाले लोग तथा तिर्यंच उनको साक्षात् प्रभु जानकर नमस्कार करते हैं।

प्रभु एक अपने मुख से तथा तीन दिशाओं में मूर्ति के मुख से, इस प्रकार चार मुखों से अतिशय द्वारा देशना देते हैं। चलते समय भगवान स्वर्णकमल पर पैर रखकर ग्रामानुग्राम विहार करते हैं, सुगन्धित पवन, सुगन्धित जल का छिड़काव और पुण्यवान पुरुषों के लायक अनेक दिव्य पदार्थ प्रकट होते हैं। इतने पदार्थों का सेवन करने वाले तीर्थंकरों का त्यागीपन गया नहीं, कर्म लगे नहीं, भोगी बने नहीं, फिर मुक्त परमेश्वर की मूर्ति के सम्मुख पूजक की द्रव्यपूजा से उन पर भोगी बनने का आरोप अथवा आक्षेप करना मात्र अज्ञानता के सिवाय और क्या है ?

भोगीपन बाह्य पदार्थों से नहीं होता। वह तो आन्तरिक मोह के परिणाम के आधीन है। ऐसे मोह को तो भगवान ने पहले से ही देशनिकाला दे दिया है। अलिप्त भगवान को जैसे पूजा से राग नही, वैसे निन्दा से द्वेष भी नहीं। जो जिस तरह करता है वह उसी प्रकार का फल अपनी आत्मा के लिए प्राप्त करता है। जैसे सूर्य की ओर कोई थूके अथवा स्वर्णमोहर फेंके तो वह फेंकने वाले की तरफ लौट कर आती है। सूर्य को उससे कुछ लगता नहीं। इसी प्रकार परमात्मा की पूजा अथवा निन्दा से भी निन्दक को ही लाभ-हानि होती है।

श्री तीर्थंकरदेव जन्म से लेकर निर्वाण तक पूजनीय और वन्दनीय है क्योंकि निन्दनीय वस्तु के चारों निक्षेप जैसे निन्दनीय होते है, वैसे ही पूजनीय वस्तु के चारों निक्षेप पूजनीय होते है।

द्रव्यनिक्षेप से पूर्व जन्मावस्था का आरोपण कर जैसे इन्द्रादि देवों ने स्नान करवाया, वैसे प्रभु को जल से स्नान कराके

ऐसी भावना धारण करें कि—"हे प्रभो ! जैसे जल-प्रक्षालन से शरीर का मैल दूर होता है और बाहरी ताप का नाश होता है वैसे ही भाव रूप पवित्र जल मे मेरी आत्मा के साथ रहने वाले कर्ममैल का नाश हो।" और विषय-कषाय के ताप का उपशम हो तथा यौवनावस्था या राज्यावस्था का आरोपण कर वस्त्र, आभूषण आदि पहनाने मे आते है उस समय सोचना कि 'अहो प्रभो ! आपको धन्य है कि इस प्रकार वस्त्राभूषण, राजपाट को छोडकर, सयम ग्रहण कर, आपने अनेक भव्य जीवो का उद्धार किया। मै भी अपनी अल्पबुद्धि और परिग्रह को छोडकर ऐसा कब बनू गा ?'

इस प्रकार केसर, चन्दन, नैवेद्यादि चढाकर, सभी स्थानो पर अलग अलग भावना भावित करने मे आती है तथा केवली अवस्था का आरोपण कर नमस्कार-स्तुति आदि की जाती है। श्री वीतरागदेव गृहस्थावस्था मे वस्त्र तथा आभूषण के भोगी थे, परन्तु उस अवस्था मे भी मन से तो त्यागी ही थे। परन्तु तीर्थंकर पदवी का निकाचित पुण्य उपार्जन करके आये होने से प्रातिहार्यादि बाह्य ऋद्धि भी आकर प्राप्त होती है और निर्लिप्त भाव से इसका भी भोग करना पडता है। परन्तु उस समय भी राग-द्वेष रहित शुद्ध भाव मे होने से उनको नये कर्मो का बन्धन नही होता है। राग-द्वेष की चौकडी मिलती है, तभी कर्मबंध होता है।

वीतराग प्रभु का खान-पान, बैठना-उठना आदि सब मोह-ममत्व रहित होने से बंध के नही, परन्तु निर्जरा के हेतु है जबकि अज्ञानी लोग उन सभी कार्यो मे मोहित हो जाने से कर्मबंध करते हैं।

प्रभु तो वीतराग है, निरागी है, तो फिर उनकी वस्त्रालंकार द्वारा पूजा करने से उनके निरागीपन में लेशमात्र भी न्यूनता कैसे आ सकती है? भगवान की तीन अवस्थाओं में प्रथम **पिण्डस्थ अवस्था** के तीन भेद है—

(१) **जन्मावस्था**—नहलाना, प्रक्षालन करना, अंग पोंछना आदि करना जन्मावस्था की भावना है।

(२) **राज्यावस्था**—केसर, चन्दन, फूलमाला, आभूषण, अंगरचना आदि करना, राज्यावस्था की भावना है।

(३) **श्रमणावस्था**—भगवान का केश रहित मस्तक, कायोत्सर्गासन आदि का चिन्तन करना श्रमणावस्था की भावना है।

दूसरी पदस्थ अवस्था—पद कहने से श्री तीर्थंकर पद। इसमें केवलज्ञान से लगाकर निर्वाण पर्यन्त की केवली अवस्था का चिन्तन करने का है। इस अवस्था में प्रभु आठ प्रातिहार्य सहित होते हैं तथा रत्नजड़ित सिंहासन पर वैठते है। सोने का लगातार स्पर्श पाकर भी उनका वीतराग भाव चला नही जाता और यदि चला जाता होता तो गणधर महाराज तथा इन्द्रादिदेव किसलिए वीतराग कहकर उनकी स्तुति करते? वीतरागपन का भाव यह कोई बाह्य पदार्थ नहीं, परन्तु आन्तरिक वस्तु है।

तीसरी रूपातीत अवस्था—यह रूप रहित सिद्धत्व की अवस्था है। प्रभु को पर्यंकासन पर काउसग्ग ध्यान में शान्त मुद्रा में, वैठे हुए देखकर रूपातीत अवस्था की भावना करने की है। ऐसी दशा में प्रभु को देखकर इस अवस्था का चिन्तन करने में आत्मा को अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है।

जो प्रातिहार्यादि पूजा को नही मानते, उन्हे तो केवल निर्वाण अवस्था को ही मानना चाहिए, पर ऐसा तो तभी हो सकता है कि जब भगवान की एकान्त निर्वाण अवस्था ही पूजनीय हो तथा अन्य अवस्थाएँ अपूजनीय हो। प्रभु की समस्त अवस्थाएँ पूजनीय है, इसलिये उनको पूजने की रीति भी उपर्युक्त तीन प्रकार से शास्त्रकारो ने बतलाई है।

यहाँ एक बात यह भी समझने की है कि जिन साधुओ को लोग वन्दन करते हैं, पूजा करते हैं वे त्यागी है अथवा भोगी ? यदि त्यागी हैं तो वे आहार पानी आदि का उपयोग क्यो करते है ? वन्दन-नमस्कार क्यों स्वीकार करते हैं ? वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने से क्या वे भोगी, अभिलाषी या तृष्णावान सिद्ध नही होते हैं ? यदि नही तो जिस प्रकार साधु महात्मा राग-रहित होकर पूर्वोक्त वस्तु को उपयोग मे लेकर, सयम साधना करते है, फिर भी भोगी नही बन जाते, उसमे लिप्त नही होते, बल्कि सेवक पुरुष यथोचित भक्ति कर आत्म-कल्याण साधते हैं, वैसे ही श्री वीतरागदेव की पूजा के लिए भी समझने का है।

प्रश्न ४२—भगवान तो साधु हैं। उनको कच्चे पानी से स्नान करवाने मे किस प्रकार धर्म होता है ?

उत्तर—ऊपर बताये अनुसार भगवान तो जन्म से पूजनीय होने से जन्मावस्था आरोपित कर स्नान तथा यौवनावस्था आरोपित कर उनको वस्त्राभूषण पहनाये जाते है।

जैसे श्रद्धालु श्रावको को ज्ञात होता है कि कोई पुरुष या स्त्री दीक्षा ग्रहण करने वाली है, तो उसे एक दो महीने तक

घर-घर भोजन कराया जाता है। स्नान कराकर, वस्त्राभूषण पहनाकर, वरघोड़े पर चढ़ाकर घुमाया जाता है। यह सब सगाई-सम्बन्ध के निमित्त नही, परन्तु केवल भक्ति के निमित्त ही किया जाता है। इसके उपरान्त भी जब वही साधु बन जाता है, तब उन सब में से कुछ भी नही किया जा सकता। भाव-निक्षेप के आश्रित कार्य तथा द्रव्यनिक्षेप के आश्रित कार्य भिन्न-भिन्न होते है। भगवान को स्नान आदि कराकर अलंकारो से विभूषित करने का कार्य द्रव्यनिक्षेप की भक्ति के आश्रित है न कि भावनिक्षेप के आश्रित। मूर्ति की भक्ति चारों निक्षेपों से करने की होती है।

श्री तीर्थंकर महाराजाओं ने तो चारों घाती कर्मों का नाश कर डाला है, कर्मबन्धन के मूल मोह को जलाकर राख कर दिया है। वीतराग होने के कारण नये कर्मो का बन्धन उन्हे नहीं होता, ऐसा **श्री भगवती** तथा **श्री पन्नवणा** आदि सूत्रों मे फरमाया है।

जब साधु को चार कषाय, छह लेश्या और आठ कर्म खपाने शेष है तो ऐसी दशा में सामान्य साधु और भगवान की पूजा का कल्प एक समान कैसे हो सकता है? भगवान स्वर्ण-सिंहासन पर बैठते हैं, पर सामान्य साधु यदि सोने का स्पर्श भी करता है, तब भी दोष लगता है क्योकि साधु के लिए मोह पैदा करने का वह कारण है।

भगवान को पच्चीस क्रियाओं में से एक ईर्यापथिकी (मार्ग पर चलने की) मात्र क्रिया लगती है और उससे भी प्रथम समय में कर्मबन्ध होता है, द्वितीय समय में वह कर्म भोगते है तथा तृतीय समय में नाश करते हैं। अतः कहाँ तो केसरी सिह और

कहाँ हिरन ? कहाँ चक्रवर्ती राजा और कहाँ भिक्षुक ? इस प्रकार श्री वीतराग देव और वेपधारी साधु मे महान् अन्तर है और इसीलिए दोनो की पूजा का व्यवहार भी एक समान कैसे हो सकता है ?

मूर्ति भगवान के गुणो का स्मरण कराने का एक आलम्बन है, इसलिए कच्चे पानी मे स्नान का दोप उसे किस प्रकार लग सकता है ? साक्षात् प्रभु की पूजा तथा उनकी मूर्ति की पूजा का कल्प तो अलग-अलग ही रहेगा। जैसे साक्षात् प्रभु को रथ मे विठाकर उनकी भक्ति नही की जाती, जबकि प्रभु की मूर्ति को भक्ति के लिए सभी रथ मे विठाते है। भाव अरिहन्त एव स्थापना अरिहन्त की भक्ति करने की प्रणाली मे कई प्रकार से अन्तर पडता है।

प्रश्न ४३—भगवान तो आधाकर्मी या अव्याहृत आहार काम मे नहीं लेते तो फिर उनकी मूर्ति के सामने बना हुआ, बिकाऊ लाया हुआ अथवा सामने लाया हुआ आहार कैसे रखा जाता है ?

उत्तर—आधाकर्मी आहार न लेने सम्बन्धी विचार तो दीक्षा लेने के वाद का है और नैवेद्यादि द्रव्यपूजा तो उसके पूर्व की अवस्था का विपय है, यह समाधान ऊपर हो चुका है। जैसे साधु होने वाले व्यक्ति को घर-घर भोजन कराया जाता है पर साधु होने के वाद नही अर्थात् नैवेद्यादि पूजा, द्रव्यनिक्षेप के आश्रित है, भावनिक्षेप के आश्रित नही। जैसे इन्द्रदेव तथा अन्य देव भगवान के जन्म-महोत्सव के समय कई उत्तम द्रव्यो से प्रभु की अर्चना करते है तथा वाद मे भी देवतागण वारम्वार ऐसी भक्ति करते हैं, वैसे ही प्रभु की छद्मावस्था के कारण उपर्युक्त

भक्ति का विधान है। अतः उसमें दोपारोपण करना व्यर्थ है।

प्रश्न ४४—छोटी सी मूर्ति के आगे नैवेद्य के ढेर लगा दिए जाते हैं। क्या यह अनुचित नहीं है? क्या मूर्ति को खाने की आवश्यकता रहती है?

उत्तर—यह प्रश्न सर्वथा व्यर्थ है। नैवेद्य, मूर्ति के खाने के लिए नही रखा जाता, किन्तु पूजा करने वाला अपनी भक्ति के लिए ऐसा करता है। पूज्य को इससे कोई प्रयोजन नही रहता।

मूर्ति खाती नही, इसीलिए उसके सामने यह विनति करने की है कि "हे प्रभो! आप निर्वेदी तथा सदा अनाहारी हो। आपके सामने मै यह आहार इस भाव से रखता हूँ कि मैं इस आहार तथा नैवेद्य का विल्कुल त्याग कर सदा के लिए आपके जैसा अनाहारी पद (मोक्ष) प्राप्त करूँ तथा हे देवाधिदेव! यह आहार अनेक पापारम्भ करके तैयार किया है और यह आहार यदि मैं खाऊंगा तो फिर इसके आस्वादन से मुझमें राग-द्वेष की भावना जाग्रत होगी। जितना आहार मैं आपको अर्पित करूंगा, उतनी आहार सम्बन्धी रागद्वेष की भावना कम होगी, भक्ति का लाभ मिलेगा तथा परम्परा से मुक्तिफल का स्वाद चखने का सौभाग्य भी प्राप्त होगा।

प्रश्न ४५—भगवान अपरिग्रही है। उनके सामने पैसे आदि रखकर उन्हें परिग्रही बनाने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—यह कुतर्क भी ऊपर जैसा ही है फिर भी इस पर

पुन विचार करें। पहले तो परिग्रह किसे कहा जाना है ? खान, पान, वस्त्र-अलकार, धन-धान्य आदि आठ स्पर्श वाले पुद्‌गल हैं, नजरो से जिन्हे देखा जा सकता है, एक-दूसरे को दिये जा सकते हैं। परन्तु अठारह पापस्थानको के पुद्‌गल चार स्पर्श वाले हैं, जिनको केवली भगवान के सिवाय अन्य कोई देख नही सकता और इसमे पाप के पुदगल एक दूसरे के देने मे दिये नही जा सकते।

परिग्रह पाँचवाँ पापस्थानक है। मोह, ममत्व, तृष्णा आदि उसके प्रकार हैं। परमात्मा का मोह-ममता रूप परिग्रह तो पूर्ण रूप से जलकर खाक बन गया है और दूसरे के देने से अब दिया नही जा सकता तो फिर अपरिग्रही और मोहरहित भगवान दूसरे के करने मे परिग्रही और मोह वाले कैसे बन सकते है ?

और श्री जिनप्रतिमा के सामने द्रव्य चढाते समय पूजक की भावना कैसी होती है, यह भी समझने योग्य है।

द्रव्य चढाते समय पूजक यह सोचता है कि "हे प्रभो ! मैं जो धन अर्जित करता हूँ, उसमे अनेक प्रकार के कर्मबन्ध होते हैं। साथ ही उस धन को सासारिक कार्यो मे खर्च करने से विशेष पापवृद्धि होती है। ऐसी दशा मे इस धन मे से मेरे भाव के अनुसार जितना धन मैं आपकी भक्ति मे खर्च करूगा, उस मात्रा मे पापवृद्धि रुक जाएगी। इतना ही नही परन्तु इससे पुण्यानुबन्धी पुण्य का अर्जन होगा। और अन्त मे, यह धन मेरा तो है ही नही। मेरा तथा इसका स्वभाव भिन्न है। मैं चेतन हूँ, यह जड है। अत इस पर से जितनी मूर्छा मोह उतरे, उतनी मुझे उतारनी चाहिए। इस प्रकार अपने परिग्रह और

अपनी मोह-ममता घटाने के लिए प्रभुभक्ति आदि धार्मिक कार्यों में द्रव्य खर्च किया जाता है।

जितनी मात्रा में अच्छे कार्य में द्रव्य खर्च करने की इच्छा होती है, उतनी मात्रा में तृष्णा कम होती है और जितनी मात्रा में धनसंचय की इच्छा होती है, उतनी मात्रा में परिग्रह और लोभवृत्ति की वृद्धि होती है।

मुनिजन भी संयमनिर्वाह के लिए वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि पदार्थ ग्रहण करते है। काया पुद्गल है, उसे भी वे धारण करते हैं। खान-पान भी करते हैं। उनका शिष्य समुदाय भी होता है। ये सभी प्रकार से पुद्गल ही है। उन सबको यदि परिग्रह गिनोगे तो साधुओं का पाँचवाँ व्रत सर्वथा नष्ट हुआ समझना पड़ेगा और किसी भी साधु को मोक्ष नही हो सकेगा। परन्तु आज तक असंख्य मुनि मोक्ष में पहुँच गये और आगे भी जायेंगे। अतः जैसे साधु पुरुषो के पास पूर्वोक्त वस्तुएँ होते हुए भी, वे उसमें लिप्त तथा ममता वाले नहीं होने से अपरिग्रही ही कहलायेंगे, वैसे ही श्री वीतराग भी अपरिग्रही है।

मरुदेवी माता को हाथी की सवारी किये हुए तथा करोड़ों का अलंकार पहने हुए आन्तरिक मोह के उपशमन के साथ ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया तथा छह खण्ड के स्वामी भरत चक्रवर्ती को गृहस्थावास में ही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इससे स्पष्ट है कि केवल बाह्य पदार्थो के योग से ही परिग्रह नही कहा जा सकता।

बाहरी पदार्थो के योग को ही यदि परिग्रह कहा जाय तो एक भिखारी जिसके पास पहनने को वस्त्र, खाने को अन्न अथवा

फूटी कौडी भी न हो तो उसे परम अपरिग्रही तथा महात्यागी समझना चाहिए। पर ऐसा तो कोई नही मानता, कारण यह है कि उन भिखारियो के पास बाह्य पदार्थ नही होते हुए भी उनमे आन्तरिक परिग्रह यानी तृष्णा तो भरी हुई है, इसीलिए उनका कल्याण नही हो सकता।

इससे सिद्ध होता है कि इच्छा, तृष्णा, आदि पाप के पुद्गल स्वय के अपने पास रहते है। उसे आप ले-दे नही सकते। जो निष्परिग्रही है, वे जिस तरह दूसरो के करने से परिग्रही नही बनते, उसी तरह वीतराग की भक्ति के निमित्त द्रव्य चढाने से वीतराग, परिग्रही नही बन जाते।

प्रश्न ४६—दान, शील, तप और भावना, ये चार प्रकार के धर्म है। उनमे मूर्तिपूजा किस प्रकार के धर्म मे आती है?

उत्तर—मूर्तिपूजा मे चारो प्रकार के धर्म मौजूद है और वे निम्नानुसार है—

प्रथम सुपात्र दान धर्म—इसके दो भेद (१) अकर्मी (कर्म-रहित) सुपात्र दान। (२) सकर्मी सुपात्र दान। पात्र भी दो प्रकार के है। एक रत्नपात्र तथा दूसरा स्वर्ण पात्र। श्री तीर्थंकर और सिद्ध कर्मरहित, आशा-तृष्णारहित रत्नपात्र है। उनको उत्तम पदार्थ अर्पण करना—अकर्मी सुपात्रदान गिना जाता है। दूसरा सकर्मी सुपात्र स्वर्णपात्र व सुसाधु। उनको दान देना वह सकर्मी सुपात्रदान कहलाता है। साधु आठ कर्मो से सयुक्त होते है, उनको छह लेश्या भी होती है, भूख-प्यास शान्त करने के लिए तथा सर्दी गर्मी को दूर करने के लिए अनेक वस्तुओ के अभिलाषी भी होते है।

सिद्ध परमात्मा तथा केवली भगवन्तों की तुलना में छद्मस्थ साधु अल्प पूज्य हैं, फिर भी उनको दान देते हुए गृहस्थ पुण्य उपार्जन का महान् लाभ प्राप्त करते है तथा धीरे-धीरे मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं तो फिर इच्छारहित, अकर्मी ऐसे श्री सिद्ध भगवान के सामने भावयुक्त उत्तमोत्तम द्रव्य अर्पण करने से आठ सिद्धि, नवनिधि तथा मुक्तिपद की प्राप्ति हो जाती है, इसमे कोई शंका हो नही सकती। एक स्थान पर कहा है कि—

"देहीति वाक्यं वचनेषु नेष्टं,
नास्तीति वाक्यं ततः कनिष्टं।
गृहाण वाक्यं वचनेषु राजा,
नेच्छामि वाक्यं राजाधिराजः॥ १॥

भावार्थ—किसी वस्तु की याचना करना कि—"मुझे वह वस्तु दो" यह महा नीच वचन है। वस्तु माँगने पर भी नहीं देना और मना करना, यह उससे भी नीच वचन है। वस्तु सामने लाकर कहना कि 'यह वस्तु लो'—यह राजवचन अर्थात् उत्तम वचन है। और लेने वाला व्यक्ति कहे कि "मेरी इच्छा नहीं है"—यह वाक्य तो राजाधिराज अर्थात् सर्वोत्तम है। अतः इच्छा-तृष्णारहित भगवान शिरोमणि सुपात्र है। उनके सम्मुख द्रव्य चढ़ाकर पूजा करते समय प्रथम दान धर्म सरलता से सिद्ध होता है।

दूसरा शीलधर्म—पाँचो इन्द्रियों को वश में रखने को शीलधर्म कहते है। गृहस्थ जब भावयुक्त द्रव्यपूजा करता है तब पाँचों इन्द्रियाँ सवरभाव को प्राप्त करती हैं। इससे शीलधर्म सिद्ध होता है।

तीसरा तपधर्म—तप छह बाह्य तथा छह आभ्यन्तर भेद से बारह प्रकार का होता है। उसमे जिनप्रतिमा को पूजते समय पूजनकाल मे चारो प्रकार के आहार का त्याग होने से बाह्य तप हुआ तथा भगवान का विनय, वैयावच्च, ध्यान आदि करने से आन्तरिक तप हुआ।

चौथा भावधर्म—शुभ भावना होने के कारण ही श्रावक पूजा करता है। हजारो, लाखो रुपये खर्च करके मन्दिर आदि बनवाना, बिना भाव के प्राय अशक्य है। पूजन करते समय श्री तीर्थंकर देवो के पाँचो कल्याणको की भावना करना भी भावधर्म है।

इस प्रकार विवेकपूर्वक विचार करने से हम समझ सकते है कि श्री जिनेश्वर की मूर्तिपूजा मे भी चारो प्रकार के धर्मो की एक साथ आराधना होती है।

प्रश्न ४७—"आरम्भे नत्थि दया।" यह सूत्र वचन है जिसके अनुसार दया मे ही धर्म है पर आरम्भ मे नहीं। श्री जिनपूजा मे तो आरम्भ होता है तो फिर उससे धर्म कैसे हो सकता है?

उत्तर—मात्र एक पद बोलकर शेष गाथा छोड देने से अर्थ का अनर्थ होता है। पूरी गाथा का पूर्वापर सम्बन्ध मिलाकर अर्थ करने से ही सत्य पदार्थ का ज्ञान होता है। वह पूरी गाथा ऐसा अर्थ बताती है कि 'आरम्भ मे दया नही, सद्आरम्भ बिना महापुण्य नही, पुण्य के बिना कर्म की निर्जरा नही तथा कर्म की निर्जरा बिना मोक्ष नही।'

ऐसा कौनसा कार्य है जिसमे आरम्भ अर्थात् द्रव्यहिंसा न

जाय और कोई निकालने वाला नहीं हो तो वे आपस में भी निकालें।

(३) श्री सूयगडांग सूत्र में कहा है कि कारणवश आधाकर्मी आहार लेने में साधु को दोप नही लगता।

(४) श्री आचारांग सूत्र में साधु को नदी में उतरने की तथा खड्डे में गिर जाय तो पेड़ की डाल अथवा घास आदि को पकड़कर वाहर निकलने की आज्ञा है।

(५) श्री उववाई सूत्र में कहा है कि शिष्य की परीक्षा लेने के लिए गुरु उस पर झूठे दोप लगाये।

अव यदि प्रत्यक्ष जीवों को नहीं मारना, इसी को अहिसा कहोगे तो पंचमहाव्रतधारी साधु को तो तीनों प्रकार की हिसा का पच्चक्खाण है फिर भी उसे उपर्युक्त कार्य करने को कहा गया है, तो इसका क्या? इसमें तुम जैसी हिंसा कहते हो वैसी हिंसा तो स्पष्ट रूप से रही हुई ही है। अतः साधु जो उपर्युक्त आज्ञाविहित कार्य करे तो क्या उससे, उसके व्रतो का खण्डन होगा या नहीं? फिर तुम कहते हो कि खाते-पीते, उठते-बैठते भी ऐसी हिसा तो होती ही है, तो उसके अनुसार वे हिंसक है या अहिंसक? भगवान ने तो इस प्रकार जीवों की हिसा होने पर भी यतनावान साधुओं को आराधक कहा है।

धर्म के निमित्त शुभ भाव से कोई काम करते हुए हिंसा होती है, उसको भी शास्त्रकारों ने विराधक नहीं माना है। साधु को जब इस प्रकार अधिक लाभ देखकर हिसायुक्त लगने वाले कार्यो को भी करने की अनुमति है. तो श्रावक को धर्म के निमित्त

आरम्भ करते पाप लगे, ऐसा कैसे हो सकता है ? ऐसे कार्यो को तो भगवान शुभानुबन्धी कहते हैं। जैसे कि—

(१) सूर्याभदेव के सामानिक देवताओ ने समवसरण आदि रचकर भक्ति करने को अपनी इच्छा भगवान को बताई थी तब भगवान ने कहा कि, तुम्हारा यह धर्म है। मैंने तथा अन्य तीर्थंकरो ने इसके लिए अनुज्ञा दी है। आदि। एक योजन प्रमाण जमीन साफ करने मे असख्य वायुकाय, वनस्पति काय और त्रसकाय तथा अन्य जीव-जन्तुओ का सहार होता है और फिर भी उसमे देवताओ की भक्ति को प्रधान मानकर भगवान ने उसके लिए आज्ञा दी है।

(२) श्री रायपसेणी सूत्र मे चित्रप्रधान कपट करके घोडा दौडाकर, प्रदेशी राजा को श्री केशी गणधर महाराज के पास उपदेश दिलाने ले गया। उसमे अनेक जीवो का सहार होने पर भी परिणाम शुद्ध होने से उसके इस कार्य को धर्म की दलाली कहा गया है न कि पाप की दलाली।

(३) उसी प्रकार श्रीकृष्ण महाराज ने दीक्षा की दलाली की और उसको भी पाप दलाली न कहकर धर्म दलाली ही कहा गया है।

(४) श्री ज्ञातासूत्र मे श्री सुबुद्धिप्रधान ने श्री जितशत्रु राजा को समझाने के लिए गदा पानी साफ करने हेतु हिंसा की, उसे भी धर्म के लिए कहा गया है।

(५) किसी को दीक्षा लेने की इच्छा है। उसे ओघा, मुहपत्ति, वस्त्र, पात्र की जरूरत है। यदि ये वस्तुएँ कोई श्रावक देता है, तो उसमे धर्म है या अधर्म ?

(६) साधु का आगमन जानकर दूर तक सामने जावे, विहार करते जानकर रोकने जावे, सैकड़ों कोस दूर तक वन्दन करने जावे, कल्प्य वस्तुओं की व्यवस्था कर दे, दीक्षामहोत्सव, मरणमहोत्सव आदि करे, इन सब कामों में पंचेन्द्रिय तक के जीवों की प्रत्यक्ष हिंसा होती है। फिर भी ऐसा करने में धर्म होता है अथवा अधर्म ?

(७) श्री मल्लिनाथ स्वामी ने छह राजाओं को प्रतिबोध देने के उद्देश्य से मोहनघर बनाकर अपने ऊपर के मोह को दूर करने के लिए अपने स्वरूप की एक प्रतिमा खड़ी की तथा उसमें नित्य आहार पानी डालते, उसमें लाखों जीवों की उत्पत्ति हुई और उनका नाश हुआ फिर भी भगवान को उसका पाप नहीं लगा। वे तो उसी भव में मोक्ष में गए। उससे यदि पाप-वृद्धि होती तो वे ऐसा क्यों करते तथा करने पर भी मोक्ष कैसे प्राप्त करते ?

इस तरह आज्ञा सहित के कार्यों में स्वरूपहिंसा होती है परन्तु परिणाम की विशुद्धता से अनुबन्ध रूप से 'दया है' ऐसा समझना चाहिए।

यहाँ पर कोई शंका करे कि—

"श्री तीर्थंकरदेव अपनी भक्ति के लिए छह काय के जीवों के संहार की आज्ञा किस प्रकार दे सकते हैं ?"

उसके उत्तर में कहने का है कि महान् पुरुष कदापि ऐसा नहीं कहते कि 'मेरी भक्ति करो', 'मेरी वन्दना करो' अथवा 'मेरी पूजा करो'। पर श्री गणधर महाराज की बताई हुई

शास्त्रयुक्त विधि के अनुसार पूजन करने मे सेवक वर्ग का अवश्य कल्याण होता है। जैसे साधु स्वय को लक्ष्य कर नही कहता कि 'मेरी भक्ति-सेवा करो' पर उपदेश द्वारा सामान्य रीति से गुरु-भक्ति का स्वरूप बतावे, सुपात्रदान की महिमा समझावे तथा भक्त-जन तदनुसार आचरण करें, तो इसमे साधु को अपनी भक्ति का उपदेश देने वाला नही गिना जाता, क्योकि समुदाय को भक्ति के उपदेश मे व्यक्ति का प्रवर्तकपन नही गिना जाता।

प्रश्न ४७—किसी जीव को मारना, छह काय का सहार करना, यह हिंसा है तथा जीव पर दया लाकर उसे न मारना, छह काय की रक्षा करना, यह धर्म है तो फिर जानबूझ कर जीवहिंसा से धर्म कैसे होता है?

उत्तर—यह प्रश्न एकान्तवादी का है। पहले साधु-साध्वी तथा श्रावको के लिए जिस काम को करने की आज्ञा बतायी गयी है, उसमे क्या हिंसा नही है? अवश्य है, पर यह हिंसा केवल द्रव्यहिंसा है, मारने के द्वेष रूप परिणाम से की हुई हिंसा नही है। इसलिए वह हिंसा पापकारी अथवा भावहिंसा नही मानी जाती। बाकी हिंसा तो श्वास लेते, हाथ-पैर हिलाते और चलते बैठते हुआ ही करती है। प्राय कोई भी कार्य ऐसा नही, जिसमे द्रव्यहिंसा न होती हो।

अब ऊपर के कामो मे होने वाली हिंसा अनजाने होती है, ऐसा कहना भी अनुचित है क्योकि आहार, निहार, विहार आदि तमाम आवश्यक क्रियाएँ जान-बूझ कर की जाती हैं। उनको अनजान मे करने का, कहने से तो उन क्रियाओ के करने वाले सभी साधु, श्रावक अज्ञानी ठहरेंगे जिनको कृत्याकृत्य व गमना-

गमन की भी खबर नहीं। और यदि ऐसा होता है, तो उन्हें सम्यग्दृष्टि कैसे कह सकते है? अतः भगवान की आज्ञा में रह कर उनके आदेशानुसार काम करने वाला व्यक्ति हिंसक नहीं, परन्तु अहिंसक और पापी नहीं, किन्तु पुण्यवान गिना जाता है। यदि ऐसा न मानें तो एकेन्द्रिय जीव तो जाने-अनजाने लेशमात्र भी हिसा नही करते, इसलिए उनको तो सर्वोच्च गति प्राप्त होनी चाहिए और यदि ऐसा ही बन जाता है तो क्रिया, कष्ट, तप, जप आदि का क्या प्रयोजन ?

केवल मुँह से 'दया, दया' की पुकार करने से दया उत्पन्न नहीं होती। इसके लिए दया तथा हिंसा का परमार्थ स्वरूप क्या है? उसे समझना चाहिए। शास्त्रों में हिसा तथा अहिंसा तीन-तीन प्रकार की कही है।

हिंसा के तीन प्रकार हैं—

(१) हेतु हिंसा (२) स्वरूप हिंसा (३) अनुबन्ध हिंसा

वैसे ही अहिंसा के भी तीन प्रकार है—

(१) हेतु अहिसा (२) स्वरूप अहिंसा (३) अनुबन्ध अहिंसा

जिनमें जीवहिंसा हुई नही, पर जीव-रक्षा के प्रयत्न का अभाव है, उसे हेतु हिंसा कहा जाता है। जिसमें जीव-रक्षा का प्रयत्न होते हुए भी जीववध हुआ है, उसे स्वरूप हिंसा कहा जाता है एवं जिसमें जीव का वध भी है तथा जीव-रक्षा का प्रयत्न भी नही है, वह अनुबन्ध हिंसा कहलाती है।

इसी प्रकार अहिंसा के लिए भी समझ लेना।

श्री जिनपूजादि धर्मकार्य मे स्वरूप-हिंसा है, पर हिंसा का भाव न होने के कारण अनुबन्ध, अहिंसा का पडता है। जब तक मन, वचन और काया के योग से सम्पूर्ण स्थिरता नही हो जाती तब तक बोलते, उठते ऐसे प्रत्येक कार्य करते आरम्भ तथा उससे अल्पाधिक कर्मबन्धन होता ही रहता है। ऐसी दशा मे सर्वथा अहिंसा किसी भी कार्य मे किस प्रकार हो सकती है ?

श्री ठाणाग सूत्र के चौथे ठाणे मे चतुर्भंगी कही है—

(१) सावद्य व्यापार और सावद्य परिणाम
(२) सावद्य व्यापार और निरवद्य परिणाम
(३) निरवद्य व्यापार और सावद्य परिणाम
(४) निरवद्य व्यापार और निरवद्य परिणाम

इसमे प्रथम विभाग मिथ्यात्व के आश्रित है। दूसरा विभाग सम्यग्दृष्टि तथा देशविरति श्रावक का है क्योकि श्रावक के योग्य देवपूजा, साधुवन्दन आदि धार्मिक कार्यों मे दिखने मे तो वे सावद्य व्यापार मालूम होते है, पर उनमे श्रावक के परिणाम, हिंसा के न होने के कारण वह केवल स्वरूप-हिंसा है। जिसका पाप आकाश-कुसुम की तरह आत्मा को लग ही नही पाता। तीसरा विभाग श्री प्रसन्नचन्द्र राजर्षि जैसे का जानना और चौथा विभाग सर्वविरति साधु सम्बन्धी है।

द्रव्यपूजा करने से हिंसा का पाप लगने का कोई कारण नही है।

श्री ठाणागसूत्र के पांचवें ठाणे के दूसरे उपदेश मे कर्मबन्धन के पांच द्वार बताए हैं।

पुष्पपूजा करने वाले तो उन पर दया करने वाले है। उन फूलों को कोई शौकीन लोग लेजाकर हार, गजरा आदि बना कर सूँघते हैं, मसलते हैं, वेश्या अपने पलंग पर बिछाती है, अत्तर के व्यापारी उसे चूल्हे पर चढ़ाते हैं, तेल निकालने के लिए उन्हें पीसते है, इस तरह भाँति-भाँति से कष्ट पहुँचाते हैं, जबकि जो फूल प्रभु के अंगों पर चढ़ते है, उनको तो जीवन भर कष्ट पहुँचाने या मारने की किसी की शक्ति नहीं। इसलिए वे तो सुख से अपनी आयुष्य पूर्ण करते है। श्रद्धापूर्वक फूलों को लाकर, उनको हार में पिरोकर विधिपूर्वक भगवान को चढ़ाने वाला पुष्प के जीवों को कष्ट न देकर सुरक्षा प्रदान करता है।

श्री आवश्यक सूत्र की वृहद्वृत्ति के द्वितीय खण्ड में कहा है कि—

"जहा णवणयराइसन्निवेसे केइ पभूय जलाभावओ तण्हाइ-परिगया तदपनोदार्थं कूपं खणंति तेसिं च जइवि तण्हादिया वड्ढंति मट्टिकाकद्दमाईहिं य मलिणिज्जन्ति तहावि तदुब्भवेण चेव पाणिएणं तेसि ते तण्हाइया सो य मलो पुव्वओ य फिट्टइ सेसकालं च ते तदण्णे य लोगा सुहभागिणो हवंति एवं दव्वत्थए जइवि असंजमो तहावि तओ चेव सा परिणामसुद्धी हवइ जाए असंजमो वज्जियं अण्णं च निरवसेसं खवेइत्ति तम्हा विरिया-विरएहिं एस दव्वत्थओ कायव्वो सुभाणुबंधी पभूयतरणि-ज्जराफलो यत्ति काऊणमिति"

"जिस प्रकार किसी नये नगर में पर्याप्त जल के अभाव में वहुत से लोग प्यास से मरते हों तो प्यास दूर करने के लिये वे कुआ खोदते हैं। उस समय उन्हें अधिक प्यास लगती है तथा कीचड़ और मिट्टी से शरीर मलिन बन जाता है, तो भी कुआ

खोदने के बाद उसमे से निकले हुए पानी से उनकी प्यास बुझ जाती है, तथा पहले का लगा हुआ कीचड भी दूर हो जाता है। उसके पश्चात् वे खोदने वाले तथा अन्य लोग उस पानी से सुख भोगते हैं।

उसी प्रकार द्रव्यपूजा मे जो स्वरूप जीवहिंसा दिखाई देती है पर उस पूजा मे परिणाम की ऐसी शुद्धि होती है कि जिससे असयम मे उत्पन्न हुए अन्य सन्ताप भी नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् वह पूजा ससार को क्षीण करने का सबल कारण बनती है। इस कारण देशविरति श्रावक के लिए जिनपूजा शुभानुबन्धी और अत्यन्त निर्जरा फल को देने वाली है।

जैसे दयालु डॉक्टर रोगी व्यक्ति पर दया लाकर, उसका रोग दूर करने के लिए नाना प्रकार की कडवी औषधियाँ देता है अथवा उस रोगी के शरीर की शल्यक्रिया करता है, जिससे उसे अत्यन्त पीडा होती है। उससे हैरान होकर भी वह अपने परोपकारी डॉक्टर की निन्दा नही करता और इसी तरह अन्य लोग भी उस डॉक्टर को निर्दय अथवा पापी नही कहते, क्योंकि डॉक्टर का काम तो रोग दूर करना होता है, उसे किसी प्रकार हिंसक अथवा अधर्मी नही कहा जा सकता।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि श्रावक एकेन्द्रिय जीवो पर अनुकम्पा लाकर, उनके मिथ्यात्व रूपी रोग को दूर करने के लिए उनको भगवान के चरण कमलो मे पहुँचाता है। अत वे पुष्पादि वस्तुएँ तो धन्य है कि उनका ऐसे उत्तम कार्य मे उपयोग हुआ। उन वस्तुओं का ऐसा अहोभाग्य कहाँ कि जिसमे उनको परमेश्वर के चरण-कमलो का स्पर्श हो अथवा वहाँ आश्रय मिले। धर्मदाता

गुरु महाराज भी शिष्य के अज्ञान रूपी अन्धकार को हटाने के लिए उसकी नाना प्रकार से ताड़ना करते हैं, उस पर क्रोध करते हैं, शिष्य को प्रत्यक्ष कष्ट देते हैं, फिर भी उनको कोई बुरा या निर्दय नही कहता, पर उलटी उनकी प्रशंसा ही करते है। ऐसा ही श्री जिनपूजा के लिए उपयोग में आने वाले एकेन्द्रिय जीवों के विपय में भी समझना चाहिए।

प्रश्न ४९—तीर्थंकर देव के समवसरण में देवतागण फूलों की वृष्टि करते हैं। वे सचित्त हों तो साधु से उनका संघट्टा कैसे हो सकता है ?

उत्तर—श्री समवायांग तथा **श्री रायपसेणी सूत्र** में स्पष्ट कहा है कि 'जलज थलज' इत्यादि शव्दों से जल में उत्पन्न कमलादि तथा स्थल अर्थात् जमीन पर उत्पन्न जाई, जुई, केवड़ा, चंपा, गुलाव आदि पाँच रंगों के फूलों की, कंद नीचे तथा मुख ऊपर ऐसे जानु-प्रमाण फूलों की वृष्टि होने का उल्लेख है। इससे वे फूल अचित्त नहीं पर सचित्त ही साबित होते है।

ऊपर के सूत्रों में लिखा है कि **'पुप्फवद्दलए विउव्वंति'** अर्थात् फूलों के बादल बनाए है, परन्तु फूल नहीं बनाए। इससे भी वैक्रिय फूल सिद्ध नहीं होते।

अब सचित्त फूल का स्पर्श साधु कैसे करे ? इसके उत्तर में कहना है कि घुटनों तक फैले हुए फूलों को साधु अथवा अन्य किसी व्यक्ति से जरा भी वाधा नहीं पहुँचती, ऐसा भगवान का अतिशय है। जिनके प्रभाव से शेर तथा हरिण, बिल्ली तथा चूहा, चीता तथा वकरी इत्यादि जानवर अपने जातिस्वभाव के पारस्परिक वैर को भी भूल कर धर्म का उपदेश सुनते है।

उसके प्रभाव से पुष्प के जीवो को कष्ट न हो तो, इसमे आश्चर्य किस बात का ?

श्री स्थूलभद्रजी के चरित्र मे कहा है कि 'कोशा' गणिका ने सरसो के ढेर पर सुई को खडा कर उस पर गुलाब का फूल रखकर उस पर नाच किया, फिर भी सुई को अथवा फूल को कोई भी हानि नही पहुँची । सोचो कि सरसो पर सुई, उस पर फूल और फूल पर स्त्री का बोझ होते हुए भी किसी को बाधा नही पहुँची तो फिर अत्यन्त अचिन्त्य तथा निरुपम प्रभावशाली श्री तीर्थंकरदेव के अतिशय से फूलो को बाधा न हो बल्कि वे प्रफुल्लित हो, इसमे अशक्य क्या है ?

जिनके सम्पर्क से करोडो जीव समवसरण भूमि मे एकत्र होते हुए भी भीड का नाम नही, उनका प्रभाव सामान्य जन की कल्पना से बाहर होता है, इसमे कौनसी बडी बात है ?

अकथनीय शक्ति के स्वामी देवता जल-थल मे उत्पन्न फूल लाकर, उनके बादल बनाकर ऐसी खूबी के साथ बरसाते है कि जिससे मनुष्य के पैरो से उनको हानि अथवा कष्ट न हो । तथा समवसरण के बीच गढ की दीवार के पास चारो ओर फूलो की पक्ति ऐसी बनाते है कि जिससे आने-जाने वाले साधुओ के पैर के नीचे भी पुष्प नही आवें । जिस प्रकार बाग मे चारो ओर हरी दूब होती है पर बीच मे आने-जाने की सडकें तथा खुली जमीन रहती है और लोग वहाँ बैठते है वैसे ही फूलो की वर्षा होने मे आश्चर्य नही है ।

प्रश्न ५०—समवसरण मे सचित्त वस्तु को बाहर रखना

और अचित्त को अन्दर ले जाना, ऐसी आज्ञा है, इसका मेल कैसे बिठाना ?

उत्तर—सचित्त वस्तु को बाहर छोड़ने की जो बात कही गई है वह अपने उपयोग की वस्तु के लिए है किन्तु पूजा की सामग्री के लिए नही। यदि सचित्त वस्तुमात्र का निषेध करोगे तो मनुष्य आदि का शरीर भी सचित्त है अतः उसको भी नहीं ले जाना चाहिए। पर ऐसा होने से तो समवसरण में कोई जा ही नहीं सकता।

जीवयुक्त पदार्थ की अन्दर प्रवेश करने की शक्ति है, अचित्त की नही तथा सचित्त को छोड़कर अचित्त को अन्दर ले जाने की ही बात मानोगे तो राजा के छत्र, चँवर, छड़ी, तलवार, मुकुट तथा सभी लोगों के जूते भी अचित्त होने से अन्दर ले जाये जा सकते है, पर उसके लिए तो मना है। उसी प्रकार खाने की अचित्त वस्तु भी बाहर छोड़नी पड़ती है। इससे सिद्ध होता है कि पूजा की सामग्री सचित्त हो या अचित्त उसे समवसरण मे ले जाने में कोई आपत्ति नही। इसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि अपने खान-पान की कोई भी वस्तु चाहे वह अचित्त हो, फिर भी भीतर नहीं ले जाई सकती।

प्रश्न ५१—जिस द्रव्यपूजा को साधु नहीं करता, उसका उपदेश देकर दूसरों से करवाने से क्या लाभ ?

उत्तर—पंचमहाव्रतधारिणी साध्वी को, साधु नमस्कार न करे, वैयावच्च न करे परन्तु श्रावकों को उपदेश देकर आहार दिलावे, वन्दना करावे, दूसरी साध्वी को कहकर वैयावच्च करावे

तथा करने वाले को अच्छा समझे। साथ ही साधु अपने दीक्षित शिष्य को वन्दन न करे, परन्तु दूसरे से वन्दन करावे।

दूसरी दृष्टि से देखें तो गरीबों को दान देना, साधर्मिक वात्सल्य करना, तपस्वियों को पारणा कराना, मुनिराज के योग्य वस्तुओं की पूर्ति करना आदि धर्म के अनेक कार्य हैं। फिर भी साधु का आचार न होने से वह यह सब न करे, पर श्रावकों को ऐसा करने का उपदेश दे तथा उसकी अनुमोदना करे। इस न्याय से साधु सर्वथा द्रव्य के त्यागी और निरारंभी होने से द्रव्यपूजा न करे, पर उपदेश द्वारा करावे तथा उसकी अनुमोदना करे।

प्रश्न ५२—श्रावक के बारह व्रतों में श्री जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा कौनसे व्रत में आती है?

उत्तर—जिसके बिना सभी व्रत निष्फल हैं, ऐसी समस्त शुभ क्रियाओं का मूल सम्यक्त्व है। उसके कारण से श्रावक को गृहस्थावास में रहते हुए भी श्री जिनमूर्ति की द्रव्य-भाव पूजा करना उचित है। देव तो श्री अरिहन्तदेव, गुरु तो श्री जैनधर्म के शुद्ध गुरु और धर्म तो केवलीप्रणीत सत्य धर्म। ये तीनों वस्तुएँ चारों निक्षेपों से सभी को वन्दनीय एवं पूजनीय हैं। इनको मानने वाला सम्यग्दृष्टि और नहीं मानने वाला मिथ्या-दृष्टि है। इस प्रकार श्री जिनपूजा सम्यक्त्व का मूल है और सम्यक्त्व सभी व्रतों का मूल है। सम्यक्त्व के बिना सारी क्रियाएँ निष्फल हैं।

प्रश्न ५३—तपस्या करने से अनेक लब्धियाँ उत्पन्न होती

हैं परन्तु क्या श्री जिनप्रतिमा की पूजा करने से किसी को लब्धि या ज्ञान की उत्पत्ति होना सुनी है ?

उत्तर—श्री रायपसेणी, श्री भगवतीसूत्र, श्री जीवाभिगम, श्री ज्ञातासूत्र, श्री उववाई सूत्र, श्री आवश्यक सूत्रादि वहुत से सूत्रों में मूर्तिपूजा को कल्याणकारी, मंगलकारी और अन्त में मोक्ष देने वाली कहा है। उत्कृष्ट पुण्य जो तीर्थंकर गोत्र है, वह भी जिनपूजा से बँधता है। अन्य देव की मूर्ति की आराधना से भी लोगों के धन, धान्य, पुत्र आदि की प्राप्ति के दृष्टान्त विद्यमान है तो श्री वीतराग की मूर्ति की आराधना से प्रत्येक मनवांछित लब्धि प्राप्त हो—इसमें क्या आश्चर्य है! इसके सम्वन्ध में दृष्टांत निम्नानुसार है—

(१) अनार्य देश का निवासी श्री आर्द्रकुमार श्री ऋषभदेव स्वामी की प्रतिमा के दर्शन से जातिस्मरणज्ञान प्राप्त कर वैराग्य दशा में लीन हुआ, जिसका वर्णन वारह सौ वर्ष पूर्व लिखित श्री सूयगडांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन की टीका में है।

(२) श्री महावीर स्वामी के चौथे पट्टधर तथा श्री दशवैकालिक सूत्र के कर्ता श्री शय्यंभवसूरि को, श्री शांतिनाथजी की प्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोध प्राप्त हुआ, ऐसा श्री कल्पसूत्र की स्थिरावली की टीका में कहा है।

(३) **श्री द्वीपसागरपन्नत्ति** तथा **श्री हरिभद्रसूरिकृत आवश्यक** की वड़ी टीका के अनुसार श्री जिनप्रतिमा के आकार की मछलियाँ समुद्र में होती है। जिनको देखकर अनेक भव्य मछलियों को जातिस्मरणज्ञान प्राप्त होता है और वारह व्रत

धारण कर सम्यक्त्व सहित आठवे देवलोक मे जाती है। इस प्रकार तिर्यंच जाति को भी जिनप्रतिमा के आकार मात्र के दर्शन से अलभ्य लाभ प्राप्त होता है तो मनुष्य को अलभ्य-लाभ प्राप्त हो, इसमे क्या शका हो सकती हे ?

(४) श्री ज्ञातासूत्र मे श्री तीर्थंकर गोत्र-वन्ध के बीस स्थानक कहे है। उसके अनुसार राजा रावण ने प्रथम अरिहन्त-पद की आराधना, श्री अष्टापद पर रहने वाले तीर्थंकर देव की मूर्ति की भक्ति कर, तीर्थंकर गोत्र बाँधा, ऐसा रामायण मे कहा है। यह रामायण श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने सत्रह सौ वर्ष पूर्व हुए, श्री जिनसेनाचार्य कृत पद्मचरित्र के आधार से बनाई है और जिसे प्राय तमाम जैन मानते हैं।

(५) उसी ग्रन्थ मे लिखा है कि रावण ने श्री शान्तिनाथ प्रभु की मूर्ति के सामने बहुरूपिणी विद्या की साधना की और प्रभु भक्ति से वह विद्या सिद्ध हो गई।

(६) श्री पद्मचरित्र मे कहा है कि लका जाते समय श्री रामचन्द्रजी ने समुद्र पार उतरने के लिए श्री जिनमूर्ति के सामने तीन उपवास किये। धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति दी, जिसके प्रभाव से उन्होने आसानी से समुद्र पार कर लिया।

(७) जरासध राजा ने कृष्ण महाराज की सेना पर जरा डाली, सभी सैनिक बेहोश हो गए। तब श्री नेमिनाथ स्वामी की आज्ञा से कृष्ण राजा ने तीन उपवास किये। धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु की मूर्ति दी, जिसके स्नान जल से 'जरा' टूट गई और सारे सैनिक होश मे आ गये। यह मूर्ति

शंखेश्वर पार्श्वनाथ के नाम से अब भी गुजरात में विद्यमान है (यह कथन **श्री हरिवंशचरित्र** में है)।

(८) नागार्जुन जोगी को कहीं भी स्वर्ण-सिद्धि नहीं हुई। अन्त में श्री पादलिप्ताचार्य के वचन से श्री पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा के सामने श्रद्धापूर्वक एकाग्रता करने से वह सिद्धि प्राप्त हुई। इससे वह योगी परम सम्यक्त्वधारी श्रावक बना और गुरु पादलिप्ताचार्य को कीर्ति के लिए श्री शत्रुञ्जय की तलेटी में पालीताणा नगर बसाया, ऐसा श्री पादलिप्त चरित्र में लिखा हैं।

(९) श्री श्रीपाल राजा तथा सात सौ कोढ़ियों का अठारह प्रकार का कोढ़ उज्जैन नगर में श्री केसरियानाथजी की मूर्ति के सामने, श्री सिद्धचक्र यंत्र के स्नान जल से दूर हो गया तथा उनकी काया कंचन समान बन गई। वह मूर्ति हाल में मेवाड़ में धुलेवा नगर में बिराजमान है (देखो श्री श्रीपाल चरित्र)।

(१०) **श्री अभयदेवसूरिजी** का कोढ़ **श्री स्तम्भन पार्श्वनाथजी** की मूर्ति के स्नानजल से गया। उसके पश्चात् उन्होंने नव अंग सूत्रों की टीका रची।

(११) श्री गौतम स्वामी की शंका निवारण करने के लिए भगवान ने श्रीमुख से फरमाया है कि—जो व्यक्ति आत्मलब्धि से श्री अष्टापद तीर्थ पर चढ़ कर भरत राजा द्वारा बनवाई हुई जिन प्रतिमाओं का भावपूर्वक दर्शन करेगा तो वह इसी भव में मोक्ष में जायेगा। इस बात का निश्चय करने के लिए, श्री गौतम स्वामी अष्टापद पर चढ़े तथा यात्रा करके उसी भव में मोक्ष गये, ऐसा पाठ **श्री आवश्यक निर्युक्ति** में है।

(१२) श्री भगवती सूत्र के मूल पाठ मे कहा है कि— भावपूर्वक श्री जिनमूर्ति का शरण लेने पर कभी नुकसान नही होता।

(१३) चौदह पूर्वधर श्री भद्रबाहुस्वामी 'श्री आवश्यक निर्युक्ति' मे फरमाते हैं कि—

अकसिणपवत्तमाण, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
ससारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठतो ॥ १ ॥

भावार्थ—देश-विरति श्रावक को पुष्पादि के द्वारा द्रव्यपूजा अवश्य करनी चाहिए। यह द्रव्यपूजा कुए के दृष्टात से ससार को पतला करने वाली है।

(१४) टीकाकार भगवान श्री हरिभद्रसूरिजी ने श्री आवश्यकवृत्ति मे ऐसा बताया है कि प्रभुपूजा पुण्य का अनुबन्ध करने वाली तथा वह निर्जरा के फल को देने वाली है।

(१५) श्री अभयदेवसूरिजी ने पूजा के फल को बताते हुए कहा है कि यद्यपि श्री जिनपूजा मे स्वरूपहिंसा दिखाई देती है, फिर भी वह पूजा करने से गृहस्थ (कुए के दृष्टात से) शुद्ध होता है तथा परिणाम की निर्मलता के अनुक्रम से मुक्तिफल प्राप्त करता है।

(१६) गुणवर्मा राजा के सत्रह पुत्रो मे से प्रत्येक ने भिन्न-भिन्न प्रकार की पूजा की तथा वे उसी भव मे मोक्ष गये, ऐसा सत्रह प्रकार की पूजा के चरित्र मे कहा है। सत्रह प्रकार की पूजा का विस्तृत वर्णन श्री रायपसेणी सूत्र मे है।

(१७) श्री जिनप्रतिमा की पूजा, भक्ति करने से श्री शांतिनाथ स्वामी के जीव ने श्री तीर्थंकर गोत्र का बंध किया था, ऐसा **प्रथमानुयोग सूत्र** में कहा है।

(१८) **श्री भगवती सूत्र** में ऐसा कहा है कि तीर्थंकर का नाम तथा गोत्र सुनने से भी महापुण्य होता है, तो प्रतिमा में तो उनके नाम तथा स्थापना दोनों हैं, अतः उन दोनों की पूजा होने से विशेप पुण्य हो, इसमें क्या आश्चर्य !

(१९) श्री श्रेणिक राजा ने श्री जिनेश्वरदेव की प्रतिमा की आराधना से तीर्थंकर गोत्र बाँधा, ऐसा अधिकार 'योगशास्त्र' में है।

(२०) **श्री महानिशीथ सूत्र** में श्री जिनमन्दिर बनवाने वाला बारहवे देवलोक में जाता है, ऐसा कहा है।

ऐसे सैकड़ों मूल सूत्र तथा निर्युक्ति आदि के प्रमाणों से मूर्ति-पूजा उत्तम फल देने वाली सिद्ध होती है।

वर्तमान में कई लोग अपने आत्मिक धन का झूठा अभिमान करके निश्चय को आगे कर द्रव्यरहित, केवल भाव की ही बात करते हैं और इसके द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि का आडम्बर करते हैं; परन्तु ऐसा करने से थोड़ा बहुत भी जो आत्मिक धन होता है उसे भी अपने अहम् अथवा अहंकार से खोकर वे निर्धन बन जाते है। इस विषय में **उत्तराध्ययन सूत्र** में एक दृष्टांत है।

किसी साहूकार ने अपने तीन पुत्रों की परीक्षा लेने के लिए प्रत्येक को हजार-हजार स्वर्णमुद्राये देकर परदेश भेजा और कहा कि इस धन से व्यापार कर, लाभ प्राप्त कर, शीघ्र लौट आओ।

वडे पुत्र ने तो कर्मचारी नियुक्त कर, आने जाने वालो का अच्छा आतिथ्य सत्कार कर, सभी को प्रसन्न कर, अपने व्यवसाय मे खूब धन कमाया।

दूसरे पुत्र ने विचार किया कि अपने पास तो धन वहुत है, उसे वढाकर क्या करना है ? मूलधन वना रहे, इतना काफी है। ऐसा सोचकर मूलधन को कायम रखकर ऊपर का नफा खाने-पीने व मौज-शौक मे उडा दिया। तीसरे पुत्र ने मन मे सोचा कि पिता की मृत्यु के पश्चात् उनकी विपुल धनराशि के मालिक हम ही तो हैं, फिर कमाने की चिन्ता क्यो करना ? ऐसे अभिमानी विचार से उसने मूल रकम भी मौज-शौक मे उडा दी।

अव कुछ समय पश्चात् तीनो पुत्र, अपने पिता के पास घर पहुँचे। सारी वात पूछने के वाद उस पुत्र को, जिसने मूलधन भी उडा दिया था, घर के काम-काज मे नौकर की तरह रख, अपना गुजारा करने को कहा, अर्थात् श्रेष्ठिपुत्र के पद से हटाकर नौकर वनाया। दूसरे पुत्र को जिसने मूलधन को रखकर उसमे कोई वृद्धि नही की, कुछ द्रव्य से व्यापार करने की आज्ञा दी। परन्तु सवसे वुद्धिमान् वडे पुत्र को, जिसने असली रकम के अलावा वडा नफा कमाया था, घर का सारा भार सौंपकर घर का मालिक वनाया।

ऊपर वताये हुए दृष्टान्त का उपनय यह है कि असली धन तो मनुष्य-जन्म है। इसमे जिसने अधिक कमाई की, उसे धर्ममार्ग मे वढकर महान् समृद्धिशाली व देवगति अथवा सर्वोत्कृष्ट अक्षय स्थिति को क्रमश प्राप्त करने वाला समझना चाहिए। जिसने मूलधन (मनुष्य भव) को यथावत् कायम रखा वह मरकर पुन

मनुष्य योनि में ही आया, कुछ घटा-बढ़ा नहीं, ऐसा समझना चाहिए किन्तु तीसरा तो असली रकम भी गवाँ बैठा, दिवालिया बन गया, इससे उसे मनुष्यगति रूपी उत्तम रत्न को हारकर कर्मवश नरक-तिर्यंच रूपी नीच गति में जाना पड़ा, ऐसा समझना चाहिए।

संक्षेप में कहा जाय तो आत्मिक शक्ति का अभाव अथवा उसकी वृद्धि के प्रति उदासीनता मूलधन खोकर दरिद्र बनने के समान है। जिस सत्कृत्य से तीर्थंकर गोत्र भी बँधता है ऐसे प्रभावशाली सत्कृत्य का अनादर करने वाले लोग अपने बैठने की डाली को ही तोड़ते हैं। इतना ही नहीं पर जिस महान् पुण्य के फल से यह श्रेष्ठ मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, उसकी जड़ को दुराग्रह रूपी कुल्हाड़ी से काटने की प्रवृत्ति करते हैं।

प्रश्न ५४—श्री जिनपूजादि कार्य करना तो व्यवहार धर्म है। जो निश्चय को प्राप्त हो चुके हैं, उनके लिए ऐसे अधर्म-कार्य की क्या आवश्यकता है?

उत्तर -जो व्यवहार धर्म को छोड़कर, केवल निश्चय धर्म की साधना करने जाते है, वे दोनों से चूकते हैं, क्योंकि श्री जिनमार्ग में शुद्ध व्यवहार को प्रधान पद दिया गया है, केवल निश्चय को नही। यह सिद्ध करने के लिए अनेक दृष्टान्त है। जैसे—

(१) श्री भरतराजा को केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद भी वेश बदलना पड़ा, तो क्या ऐसा किये बिना केवलज्ञान वापिस चला जाने वाला था? नही, पर व्यवहार बनाए रखने के लिए गृहस्थ का वेश उतारना पड़ा और मुनिवेश धारण करना पड़ा।

(२) साधु वरसते मेह मे अपने स्थान पर आवे, परन्तु अकेली स्त्री वाले स्थान पर न रुके। मार्ग चलते समय दूसरा रास्ता न मिले तो साधु हरी दूब पर पैर रखकर चले; परन्तु स्त्री के स्पर्श से बचे क्योकि यह लोक-व्यवहार से विरुद्ध है।

(३) केवली महाराज दिन और रात मे समान रूप से देखते है, फिर भी व्यवहार बनाये रखने के लिये रात मे विहार नही करते हैं।

(४) युगलिक भाई-बहन, पति-पत्नी बनने के बाद भग कर के मरकर देवलोक मे जाते हैं, परन्तु ऐसा काम यदि आज कोई करे तो उसे व्यवहार मार्ग का उल्लघन कहा जाता है तथा महा अनर्थकारी गिना जाता है। निश्चित रूप से जीवहिंसा तो समान ही है।

(५) श्री महावीर परमात्मा निश्चित रूप से जानते थे कि दो साधु मरेंगे पर व्यवहार-पालन के लिए उन्होने बोलने से इन्कार किया।

(६) श्रावक निरन्तर आरम्भ-परिग्रह मे बैठा हुआ है और अनेक जीवो को कष्ट पहुँचाता है। फिर भी चोरी की वस्तु लेना, उसके लिए योग्य नही। इसका कारण यही तो है कि लोकव्यवहार का लोप न हो।

(७) श्री वीरपरमात्मा जानते थे कि—'मेरे रोग की स्थिति पक गई है, अत अब वह मिट जायेगा' परन्तु व्यवहार के लिए तथा अन्य साधुओ को यह बतलाने के लिये कि औषधि-सेवन से लाभ होता है, प्रभु ने भी औषधि ग्रहण की।

(८) श्री मल्लिनाथस्वामी अवेदी थे, परन्तु लोक-व्यवहार को मान्य रखने के लिए वे स्त्रियों के साथ ही बैठते ।

(९) राग से बचने के लिए साधु को चातुर्मास के सिवाय अकारण एक स्थान पर एक महीने से अधिक नही रहना चाहिए परन्तु जो मोहराग बँधने का होता है तो रहनेमि की तरह एक घड़ी में भी बँध सकता है। फिर भी एक महीने से अधिक रहने पर ही व्यवहार का भंग गिना जाता है, अन्यथा नही ।

इस प्रकार व्यवहारमार्ग - प्रधानता के अन्य भी सैकड़ों उदाहरण है।

श्रावक का शुद्ध व्यवहार रात्रिभोजन आदि का त्याग है। जो इस व्यवहार को तोड़ते हैं वे स्वयं भी अवश्य तत्काल नष्ट हो जाते है और जो शुद्ध व्यवहार को अंगीकार करते हैं, वे मोक्ष-फल प्राप्त करते है।

प्रश्न ५५—बारह वर्षीय दुष्काल पड़ने के समय सावद्याचार्यो ने उपदेश देकर मूर्तिपूजा करवाना प्रारम्भ किया है, उसके पहले तो कुछ था ही नहीं, ऐसा कई कहते हैं। क्या यह ठीक है ?

उत्तर—श्री महावीर स्वामी की बीसवी पट्ट-परम्परा में श्री स्कन्दिलाचार्य हुए और उनके समय मे बारह वर्षीय दुष्काल पड़ा था। अब जो उनके बाद हुए आचार्यो ने मूर्तिपूजा चलाई हो तो श्री देवर्द्धिगरणी क्षमाश्रमण तो भगवान महावीर की सत्ताईसवीं पट्ट-परम्परा मे हुए है; अतः उनको भी सावद्याचार्यो में शामिल करना पड़ेगा और उस समय अन्य सैकड़ों आचार्यो

ने एकत्र होकर करोडो ग्रन्थो की रचना की अत उन तमाम ग्रन्थो को भी निरर्थक मानना पडेगा। और यदि ऐसा हो तो जैनधर्म रहेगा ही कहाँ ?

एक मूर्ख व्यक्ति भी समझ सकता है कि दुष्काल वर्ष मे नैवेद्यादि पूजा का खर्च वढाने के उपदेश का प्रचार कैसे वढ सकता है ? उस समय लोग खर्च घटाने के उपदेश को ही ग्रहण करते है। और मूर्ति के सामने रखा हुआ अन्न आदि साधु के काम नही आता, यह बात क्या उस समय लोग नही जानते थे ? साधु अपने स्वार्थवश ऐसा उपदेश करे तो भी उस समय का समाज उसे कैसे चलने देगा ? नैवेद्य पूजा आदि उस समय शुरू हुई तो मूर्ति तो पहले थी ही, यह तो सिद्ध हो गया।

साक्षात् सरस्वती आदि तथा अन्य देवी-देवता जो हर समय जिन महात्माओ की सेवा मे उपस्थित रहते थे, ऐसे शासन-प्रेमी धुरन्धर आचार्यो को स्वार्थी मानना तथा आज-कल के निर्बुद्धि पुरुषो को नि स्वार्थी कहना कितना असगत है ? लाखो वर्षो से विद्यमान मूर्तियां तथा हजारो वर्ष पूर्व लिखित पुस्तकें अप्रामाणिक एव आधुनिक मनघडन्त कल्पनाएं प्रामाणिक, ऐसा तो कैसे मान सकते हैं ?

श्री जिनप्रतिमा की पूजा-भक्ति, हाल मे श्रद्धालु श्रावकवर्ग के द्वारा करने मे आती है। उसके लिए तथा पूजा के समय श्री जिनेश्वरदेव की पिण्डस्थादि तीनो अवस्थाओ का आरोपण करने मे आता है। उसके लिए सैकडो सूत्रो के आधार हैं, जिनमे मे कितने ही सूत्रो के नाम मात्र नीचे दिये जाते हैं। इन सूत्रो तथा इनके रचनाकारो की प्रामाणिकता मे किसी के दो मत नही हैं।

(१) श्री तत्त्वार्थसूत्र तथा अन्य पाँच सौ प्रकरण के रचयिता दस पूर्वधर वाचकशेखर **श्री उमास्वातिजी महाराज** द्वारा रचित पूजाप्रकरण।

(२) चौदह पूर्वधर तथा श्री वीरभगवान के छठे पट्टधर **श्री भद्रबाहुस्वामी कृत आवश्यक निर्युक्ति।**

(३) दस पूर्वधर **श्री वज्रस्वामीकृत प्रतिष्ठाकल्प।**

(४) **श्री पादलिप्ताचार्य कृत प्रतिष्ठाकल्प।**

(५) **श्री बप्पभट्टसूरि कृत प्रतिष्ठाकल्प।**

(६) चौदह सौ चवालीस ग्रन्थों के कर्ता **श्री हरिभद्रसूरिकृत पूजा पंचाशक।**

(७) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित **श्री षोडशक।**

(८) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित **श्री ललितविस्तरा।**

(९) इन्हीं महापुरुष द्वारा रचित **श्री श्रावकप्रज्ञप्ति।**

(१०) **श्री शालिभद्रसूरि कृत चैत्यवंदन भाष्य।**

(११) **श्री शांतिसूरि कृत चैत्यवन्दन बृहद् भाष्य।**

(१२) **श्री देवेन्द्रसूरि कृत लघु चैत्यवन्दन भाष्य।**

(१३) **श्री धर्मघोषसूरिश्री कृत संघाचारवृत्ति।**

(१४) **श्री संघदासगणि कृत व्यवहार भाष्य।**

(१५) **श्री बृहत्कल्प भाष्य** और उसकी **श्री मलयगिरिसूरि कृत वृत्ति।**

(१६) श्री महावीर प्रभु के हस्तदीक्षित शिष्य अवधिज्ञानी **श्री धर्मदासगणि क्षमाश्रमण कृत उपदेशमाला।**

(१७) जिनके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो से वर्तमान विश्व भी चकित हो गया है, उन कलिकालसर्वज्ञ विरुद धारण करने वाले **श्री हेमचन्द्राचार्य कृत श्री योगशास्त्र ।**

(१८) उन्ही द्वारा रचित **श्री त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र ।**

(१९) पूर्वधरविरचित **श्री प्रथमानुयोग ।**

(२०) पूर्व चिरतनसूरि कृत **श्री श्राद्धदिनकृत्य सूत्र ।**

(२१) श्री वर्द्धमानसूरि कृत **श्री आचार दिनकर ।**

(२२) श्री रत्नशेखर सूरिकृत **श्री श्राद्धविधि ।**

(२३) ,, ,, **श्री आचार प्रदीप ।**

(२४) कक्कसूरिकृत **श्री नवपद प्रकरण ।**

(२५) श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत **श्री विशेषावश्यक महाभाष्य ।**

(२६) मल्लधारी श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित **महाभाष्य वृत्ति ।**

(२७) मल्लधारी श्री हेमचन्द्राचार्यकृत **पुष्पमाला ।**

(२८) श्री अभयदेवसूरिकृत **पचाशकवृत्ति ।**

(२९) **श्री ज्ञातासूत्र ।**

(३०) **श्री ठाणाग सूत्र ।**

(३१) **श्री रायपसेणी सूत्र ।**

(३२) **श्री जीवाभिगम सूत्र ।**

(३३) **श्री महाप्रत्याख्यान सूत्र ।**

(३४) **श्री महानिशीथ सूत्र ।**

(३५) श्री देवसुन्दरसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।

(३६) श्री सोमसुन्दरसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।

(३७) श्री जिनपतिसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।

(३८) श्री अभयदेवसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।

(३९) श्री जिनप्रभसूरिकृत सामाचारी प्रकरण ।

इस प्रकार सैकड़ों आचार्यों के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर मूर्तिपूजा की जाती है। अब इनमें से कौनसे आचार्यों को सावद्याचार्य कहा जाय? कदाचित् ऐसा कहा जाय कि—'पूर्वधरों के समय में ज्ञान कण्ठस्थ था पर बाद मे उसे पुस्तकारूढ़ करने में आया, अतः मानने में शंका रहती है'—परन्तु यह कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि उस समय में भी पुस्तकों के सर्वथा अभाव का उल्लेख कहीं नही है। क्या श्री ऋषभदेव स्वामी द्वारा चलाई गई लिपि का विच्छेद हो गया था? यदि हाँ! तो फिर लोगों के काम किस तरह चलते होगे?

फिर दूसरा प्रमाण यह है कि श्री वीर प्रभु के ९८० वर्ष पश्चात् श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणादि सैकड़ो आचार्यो ने मिलकर एक करोड़ से भी अधिक पुस्तके बनाई। उस समय आचार्यों से परम्परागत प्राप्त ज्ञान अविच्छिन्न रूप से पुस्तकों में बराबर यथातथ्य उतारने में आया, उसमें से बहुत से ग्रन्थ, जो सैकड़ों वर्ष पूर्व के लिखे हुए हैं, ज्ञान-भंडारों में मौजूद है।

उस समय उन आचार्यों के कोई प्रतिपक्षी हुए हों तो उनकी तरफ से भी उस समय की लिखी पुस्तकें प्रमाण रूप में मौजूद होनी चाहिए, पर ऐसा लगता नहीं। तो फिर धर्म के स्तम्भ-

रूप पडित पुरुषो और उनकी रचनाओ की अवज्ञा करने से महापाप के भागी बनने के सिवाय दूसरा क्या फल मिल सकता है ?

प्रश्न ५६—कई लोग कहते हैं कि श्री वीर सवत् ६७० मे साचोर गाँव मे श्री महावीर स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा हुई, उससे पहले मूर्ति थी ही कहाँ ?

उत्तर—इस कथन का कोई प्रमाण नही। यदि ऐसा हो तो लाखो वर्ष पूर्व मूर्तिपूजा करने के पाठ, मूलसूत्रो मे कहाँ से आये ? आज भी हजारो तथा लाखो वर्ष के मन्दिर तथा मूर्तियाँ मौजूद हैं। उन मन्दिरो तथा मूर्तियो की प्राचीनता को अग्रेज शोधकर्ता तथा अन्य दार्शनिक विद्वान् भी साक्षी देते हैं।

प्राचीन मन्दिरो और मूर्तियो के लिए कितने ही शास्त्रीय उल्लेख—

(१) श्री आवश्यक मूल पाठ मे 'वग्गुर' श्रावक द्वारा मल्लिनाथ स्वामीजी का मन्दिर पुरिमताल नगरी मे बनवाने का उल्लेख है।

(२) भरत चक्रवर्ती के श्री अष्टापद पर्वत पर चौवीस तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ उनके वर्ण, लछन तथा शरीर के कद अनुसार स्थापित करने का श्री आवश्यक सूत्र के मूल पाठ मे कथन है।

(३) निजाम हैदराबाद के पास मे कुल्पाक गाँव मे भरत राजा के समय मे भरवाई हुई श्री ऋषभनाथ स्वामी की मूर्ति,

जो समय के प्रभाव से मन्दिर सहित जमीन में दब गई थी, कुछ समय पूर्व प्रगट हुई है। जमीन के अन्दर से मन्दिर निकला है। प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की आवश्यकता नही। आँखों से देखकर ज्ञात कर लेना कि वह तीर्थ प्राचीन है अथवा अर्वाचीन ? लोग इसे **माणिक्यस्वामी** की प्रतिमा भी कहते हैं और वह देवाधिष्ठित है।

(४) राधनपुर के पास में श्री शंखेश्वर गाँव में शंखेश्वर पार्श्वनाथजी की मूर्ति गत चौवीसी के श्री दामोदर नाम के तीर्थंकर के समय मे बनी हुई, देवाधिष्ठित मौजूद है।

(५) बम्बई के पास अगासी गाँव में श्री मुनिसुव्रतस्वामी की प्रतिमा उनके समय में बनी हुई कहलाती है।

(६) श्रीपाल राजा तथा सौ कुष्ठ रोगियों का कोढ़ श्री ऋषभनाथजी की मूर्ति के स्नान-जल से दूर हुआ था। वह मूर्ति श्री धूलेवा नगर में श्री केसरियानाथजी के नाम से पहचानी जाती है, जिसे लाखों वर्ष हो गये।

(७) राजा रावण के समय में बनी हुई श्री अंतरिक्ष पार्श्वनाथजी की मूर्ति दक्षिण देश में आकोला के पास अंतरिक्षजी तीर्थ में विद्यमान है।

(८) इस चौवीसी के श्री नेमिनाथ भगवान के शासन के २२२२ वर्ष पश्चात् गौड़ देशवासी आषाढ़ नाम के श्रावक ने तीन प्रतिमाएँ भरवाई। उनमें से एक खम्भात में श्री स्तम्भन पार्श्वनाथ की, दूसरी पाटण शहर में तथा तीसरी पाटण के पास में चारूप गाँव में अब विद्यमान है। उस पर निम्नानुसार लेख है—

"नमेस्तीर्थंकृते तीर्थे, वर्षद्विक चतुष्टये।
आषाढश्रावको गौडो कारयेत् प्रतिमा त्रयम्॥"

इत्यादि, इस हिसाब से ये प्रतिमाएँ लगभग ५,८६,७४४ वर्ष पुरानी हैं।

(९) मारवाड मे नादिया गाँव मे श्री महावीर स्वामी मौजूद थे, तब उनकी मूर्ति स्थापित की हुई है, जिसको जीवितस्वामी कहते हैं।

(१०) काठियावाड मे श्री महुवा गाँव मे भी भगवान श्री महावीर स्वामी विचरते थे, उस समय की भरवाई हुई उनकी प्रतिमा है।

(११) जोधपुर के पास ओसिया नगर मे श्री वीर निर्वाण के ७० वर्ष पश्चात् स्थापित की हुई श्री महावीर भगवान की मूर्ति श्री रत्नप्रभसूरि द्वारा प्रतिष्ठित की हुई है, जिसे २४४४ वर्ष हो गये। अन्य प्राचीन लेख भी वहाँ है।

(१२) भरुच शहर मे श्री मुनिसुव्रतस्वामी के समय की उनकी मूर्ति है, जिसे लाखो वर्ष हो गये।

(१३) कच्छ प्रदेश मे भद्रेश्वर तीर्थ का जो भव्य और अति प्राचीन जिनालय है उसका जीर्णोद्धार करते समय जब खुदाई का काम हुआ तो जमीन मे से एक ताम्रपत्र मिला है जिस पर प्राचीन समय का लेख है। उसमे लिखा है कि—'यह मन्दिर वीर सवत् २३ मे बनवाया हुआ है, जिसको आज लगभग ढाई हजार वर्ष हो गये हैं।

(१४) बीकानेर में श्री चिन्तामरिण पार्श्वनाथजी के मन्दि में, चौबीस सौ तथा उससे भी अधिक वर्षो पुरानी सैकड़ प्रतिमाएँ हैं।

(१५) सर कनिंगहाम की स्वयं की **'आर्कियोलॉजिकल रिपोर्ट'** में मथुरा में प्राप्त हुई कितनी ही मूर्तियों के लेख प्रगट हुए हैं जिनकी नकलें श्री **'तत्त्व-निर्णय-प्रासाद'** नाम के ग्रन्थ में छपी हुई हैं जिसे जिज्ञासु पढ़ सकते हैं।

(१६) सम्प्रति राजा द्वारा वीर संवत् २९० के बाद में बनवाई हुई लाखों मूर्तियों में से बहुत सी प्रतिमाएँ मारवाड़, गुजरात के अनेक गाँवों में मौजूद है।

पुनः इसके अतिरिक्त निम्नलिखित स्थलों पर अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ विद्यमान है।

(१७) श्री घोघा में श्री नवखंडा पार्श्वनाथ।

(१८) श्री फलौदी में श्री फलवृद्धि पार्श्वनाथ।

(१९) श्री भोयरणी में श्री मल्लिनाथजी भगवान।

(२०) श्री आबू के मन्दिरों में अनेक प्राचीन प्रतिमाएँ है।

(२१) श्री कुमारपाल राजा द्वारा बनवाया हुआ श्रीतारंगा-जी तीर्थ का गगनचुम्बी जिनालय और उसमें विराजमान श्री अजितनाथ स्वामी की विशालकाय भव्य मूर्ति।

(२२) श्री वरकारणा में वरकारणा पार्श्वनाथ।

(२३) श्री सिद्धाचलजी पर हजारों मन्दिर एवं बिम्ब।

(२४) श्री गिरनारजी पर मन्दिर और सैंकडो प्रतिमाएँ।
(२५) श्री सम्मेतशिखरजी पर रहे अनेक जिनप्रासाद।

और भी अनेक श्री जिनमन्दिर तथा मूर्तियाँ स्थान-स्थान पर श्री जिनपूजा की प्राचीनता एव शास्त्रीयता का जीवित प्रमाण देती हैं। यदि मूर्तिपूजा का निषेध होता, तो उपर्युक्त जिन-मन्दिरो के पीछे करोडो रुपयो का खर्च कैसे होता? सूत्रो मे किसी स्थान पर भी श्री जिनपूजा का निषेध नही है और स्थान-स्थान पर श्री जिनपूजा की आज्ञा है।

"से किं त उवासगदसाओ? उवासगदसासुण उवासयाण णगराइ उज्जाणाइ चेइआइ वणखडा रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइ धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइय इड्ढिविसेसा।"

श्री ठाणाग सूत्र मे श्रावक को, (१) जिनप्रतिमा (२) जिनमदिर (३) शास्त्र (४) साधु (५) साध्वी (६) श्रावक-श्राविका—इन सात क्षेत्रो मे धन खर्च करने का हुक्म फरमाया है तथा अन्य सूत्रो मे भी ये सात क्षेत्र श्रावक के लिए सेव्य बतलाये हैं। श्रावक आनन्द आदि बारह व्रतधारी, दृढ धर्मनिष्ठ श्रावक थे। श्री उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययनानुसार सम्यक्त्व के आठ आचारो का उन्होने सेवन किया है। उसमे सात क्षेत्र भी आ जाते हैं क्योकि आचारो मे साधर्मिक वात्सल्य तथा प्रभावना ये दो आचार भी कहे हैं। साधर्मिक वात्सल्य मे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका-ये चार क्षेत्र जानने तथा प्रभावना मे श्री जिनबिंब, श्री जिनमन्दिर तथा शास्त्र-ये तीन गिने जाते हैं।

आनन्द, कामदेवादि श्रावकों के अतिरिक्त प्रदेशी राजा ने भी श्री जिनमन्दिर बनवाये हैं।

प्रश्न ५६—पहले असंख्य वर्षों की प्रतिमाएँ होने का कहा है परन्तु पुद्गल की स्थिति इतने वर्षों की न होने से किस प्रकार प्रतिमाएँ स्थिर रह सकती हैं?

उत्तर—श्री भगवती सूत्र में पुद्गल की जो स्थिति बताई है, वह सामान्य से स्वाभाविक स्थिति बताई है परन्तु जिसकी देव रक्षा करते है वे तो असंख्य वर्ष तक रह सकते है; जैसे **श्री जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र** में लिखा है कि—

"भरतचक्रवर्ती दिग्विजय कर ऋषभकूट पहाड़ पर पूर्व में हो चुके अनेक चक्रवर्तियों के नाम मिटाकर उन्होंने अपना नाम लिखा।"

अब सोचो कि "भरत चक्रवर्ती के पहले अठारह कोड़ा-कोडी सागरोपम भरतक्षेत्र में धर्म का विरह रहा है, तो इतने असंख्य काल तक मनुष्य लिखित नाम रहे या नहीं? अवश्य रहे। तो फिर शंखेश्वर पार्श्वनाथ आदि की मूर्तियाँ देवता की सहायता से रहें, इसमें क्या आश्चर्य है? ऋषभकूट आदि पहाड़ शाश्वत हैं, पर नाम तो बनावटी है। यदि नाम भी शाश्वत हों तो उनको कोई नहीं मिटा सकता।

फिर कोई कहता है कि—पृथ्वीकाय तो २२००० वर्ष से अधिक नहीं रहते तो क्या देवता आयुष्य बढ़ाने में समर्थ हैं? उसके उत्तर में कहना है कि—मूर्ति पृथ्वीकाय जीव नहीं है; निर्जीव वस्तु है। अनुपम देवभक्ति के द्वारा उसे असंख्य वर्षों

तक भी रखा जा सकता है, क्योकि जैन शास्त्रानुसार किसी भी पुद्गल द्रव्य का अनन्तकाल तक भी सर्वथा नाश नही होता। अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा सभी पुद्गल शाश्वत हैं, पर्याय की अपेक्षा अशाश्वत हैं। जैसे पर्वत मे से पत्थर का एक टुकडा लो तो उस टुकडे का पर्याय बदलेगा पर पूर्णतया नष्ट तो किसी काल मे भी नही होगा। उसी रीति से तमाम पुद्गलो को समझना चाहिए।

पुन श्री जबूद्वीप-प्रज्ञप्ति मे अवसर्पिणी काल के पहले आरे का वर्णन करते हुए कहा है कि—

"घने जगलो, वृक्षो, फूल-फलो मे सुशोभित, सारस-हस आदि जानवरो से भरपूर, ऐसी वावडियो तथा पुष्करिणी और दीर्घिकाओ से श्री जबूद्वीप की शोभा हो रही है।"

सोचो कि पहले आरे मे ये वावडियाँ आदि कहाँ से आई ? इस भरतक्षेत्र मे नौ कोडाकोडी सागरोपम से तो युगलिक रहते थे। युगलिक तो वावडियाँ आदि बनाते नही हैं, अत यदि वे शाश्वत नही हैं, तो फिर उन्हे किसने बनाया ?

जिस प्रकार ये वावडियाँ असख्य वर्षो से कायम रही तो फिर देवताओ की सहायता से मूर्तियाँ भी कायम कैसे न रहे ?

प्रश्न ५७—चैत्य शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है ?

उत्तर—श्री सुधर्मास्वामी के परम्परागत आचार्यो ने 'चैत्य' शब्द का जो अर्थ लिखा है वह भगवान महावीर द्वारा कथित है। परम उपकारी कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने अपने, 'अनेकार्थसग्रह' मे इस प्रकार अर्थ किया है।

'चैत्यं जिनौकस्तद्बिबं, चैत्यो जिनसभातरु.।'

अर्थ—चैत्य कहने से (१) जिनमन्दिर (२) जिनप्रतिमा (३) जिनराज की सभा का चौतराबंध वृक्ष ।

इसके सिवाय दूसरा अर्थ शास्त्र में नहीं है तथा होता भी नही । अमरकोश अथवा अन्य कोई भी कोशग्रन्थ देखो, उनमें इसके सिवाय दूसरा अर्थ नहीं कहा है । अतः इसके सिवाय मनगढ़न्त अर्थ करने वालों को झूठा समझना चाहिये । सूत्रपाठों में जहाँ जहाँ उस शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ वहाँ दूसरा अर्थ लागू हो ही नही सकता ।

प्रश्न ५८—'चैत्य' शब्द का अर्थ कितने ही 'साधु' अथवा 'ज्ञान' करते हैं । क्या यह उचित है ?

उत्तर—'चैत्य' का अर्थ 'साधु' या 'ज्ञान' किसी प्रकार नहीं हो सकता तथा शास्त्र के सम्वन्ध में वह अर्थ उपयुक्त भी नही । साधु की जगह तमाम सूत्रों में

"साहु वा साहुणी वा"
"भिक्खु वा भिक्खुणी वा"

ऐसा कहा है, पर—
"चैत्यं वा चैत्यानि वा ।"

ऐसा तो कहीं भी नहीं कहा है तथा भगवान श्री महावीर स्वामी के चौदह हजार साधु थे, ऐसा कहा है, पर 'चौदह हजार चैत्य थे', ऐसा नहीं कहा । इस प्रकार अन्य सभी तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों आदि के 'इतने हजार साधु थे', ऐसा कहा है पर 'चैत्य थे' ऐसा शब्द किसी जगह नहीं है ।

तथा चैत्य शब्द का अर्थ 'साधु' करें तो साध्वी के लिए नारी जाति मे कौनसा शब्द उसमे से निकल सकेगा। कारण कि चैत्य शब्द स्त्रीलिंग मे बोला नही जाता।

श्री भगवती सूत्र मे (१) अरिहन्त, (२) साधु और (३) चैत्य ऐसे तीन शरण कहे हैं। वहाँ जो 'चैत्य' शब्द का अर्थ 'साधु' करें तो उसमे 'साधु' शब्द अलग से क्यो कहा ? तथा ज्ञान कहें तो अरिहन्त शब्द से ज्ञान का सग्रह हो गया, क्योकि ज्ञान रूपरहित है, वह ज्ञानी के सिवाय होता नही इसलिये चैत्य से जिनप्रतिमा का ही अर्थ निकलता है। "अरिहन्त" ऐसा अर्थ भी सभव नही क्योकि—"अरिहन्त" भी प्रथम साक्षात् शब्द मे कहा हुआ है।

'चैत्य' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' करना, यह भी सर्वथा असत्य है क्योकि श्री नदीसूत्रादि मे जहाँ-जहाँ पाँच प्रकार के ज्ञान का अधिकार है वहाँ-वहाँ—

"नाण पचविह पण्णत्त।"

ऐसा कहा है पर—
"चेइय पचविह पण्णत्त।"

ऐसा तो कही नही लिखा। तथा उसका नाम मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान तथा केवलज्ञान कहा है पर मतिचैत्य, श्रुतचैत्य अथवा केवलचैत्य इत्यादि किसी जगह नही लिखा तथा उस ज्ञान के स्वामी को मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी, केवलज्ञानी इत्यादि शब्दो से परिचित करवाया है न कि मतिचैत्यी, श्रुतचैत्यी अथवा केवलचैत्यी शब्दो से। किसी को जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ तो उसे 'जातिस्मरणज्ञान'

हुआ, ऐसा कहा है पर 'जातिस्मरणचैत्य' उत्पन्न हुआ, ऐसा नहीं लिखा।

श्री भगवती सूत्र में जंघाचारण-विद्याचारण मुनियों के अधिकार में 'चेइयाइ' शब्द है तथा दूसरे बहुत से स्थानों पर वह शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसका अर्थ यदि ज्ञान करते हैं तो ज्ञान तो एकवचन में है जबकि 'चेइयाइं' बहुवचन में है। अतः वह अर्थ गलत है। पुनः श्री नंदीश्वरद्वीप में अरूपी ज्ञान का ध्यान करने के लिए जाने की क्या जरूरत है? अपने स्थान पर बैठे हुए वह ध्यान हो सकता है अतः वहाँ प्रतिमाओं से ही तात्पर्य है।

अब चैत्य का अर्थ साधु अथवा ज्ञान करने वाले भी कई जगह प्रतिमा का अर्थ करते है। उनके थोड़े से दृष्टान्त—

(१) **श्री प्रश्नव्याकरण** के आस्रव द्वार में चैत्य शब्द का अर्थ 'मूर्ति' किया है।

(२) **श्री उववाई सूत्र में 'पुण्णभद्द चेइए होत्था।'** यहाँ चैत्य का अर्थ मन्दिर और मूर्ति कहा गया है।

(३) **श्री उववाई सूत्र में 'बहवे अरिहन्त चेइयाइं।'** यहाँ भी मन्दिर और मूर्ति का अर्थ कहा गया है।

(४) **श्री भद्रबाहु स्वामी ने श्री व्यवहार सूत्र** की चूलिका में द्रव्यलिंगी "चैत्य स्थापना" करने लग जायेंगे, वहाँ "मूर्ति की स्थापना" करने लग जायेंगे, ऐसा अर्थ किया गया है।

(५) **श्री ज्ञाता सूत्र, श्री उपासकदशांग सूत्र, श्री विपाक**

सूत्र मे 'पुण्णभद्द चेइए।' कहकर पूर्णभद्रयक्ष की मूर्ति व मन्दिर का अर्थ कहा गया है।

(६) अतगडदशाग सूत्र मे भी जहां यक्ष का चैत्य कहा गया है, वहां उसका भावार्थ मन्दिर या मूर्ति बताया है।

प्रश्न ५६—कौनसे सूत्र मे तीर्थयात्रा का विधान है ? और उससे क्या लाभ होता है ?

उत्तर—तीर्थ दो प्रकार के हैं। (१) जगम तीर्थ—यानी चतुर्विध सघ और (२) स्थावर तीर्थ—यानी श्री शत्रु जय, गिरनार, नन्दीश्वर, अष्टापद, आबू, सम्मेतशिखर आदि—जिनकी यात्रा जघाचारण मुनिवर भी करते है, ऐसा श्री भगवतीजी सूत्र मे फरमाया है। श्री गौतमस्वामीजी भी अष्टापद पर गये थे।

कर्मशत्रु को जीतने वाला, ऐसा जो शत्रु जय पर्वत है, वहां से अनन्त जीव मोक्ष गये हैं, ऐसा श्री ज्ञाता सूत्र मे कहा गया है।

श्री आचाराग सूत्र मे दूसरे श्रुतस्कन्ध मे निम्नाकित तीर्थभूमि बताई है—

जम्माभिसेय-निक्खमण—चरणुप्पायनिव्वाणे।
वियलोअभवणमदरनदीसरभोमनयरेसु ॥ १ ॥
अट्ठावयमुज्जिजते गयग्गपयए व धम्मचक्के य।
पासरहावत्तनग चमरुप्पाय च वदामि ॥ २ ॥

"तीर्थंकरदेव के जन्माभिषेक की भूमि, दीक्षा लेने की भूमि,

केवलज्ञान उत्पत्ति की भूमि, निर्वाण-भूमि, देवलोक के सिद्धायतन, भुवनपतियों के सिद्धायतन, नन्दीश्वर द्वीप के सिद्धायतन, ज्योतिषी देवविमानों के सिद्धायतन, अष्टापद, गिरनार, गजपद तीर्थ, धर्मचक्र तीर्थ, श्री पार्श्वनाथ स्वामी के सर्वतीर्थ, जहाँ श्री महावीर स्वामी काउसग्ग में रहे, वह तीर्थ, इन सबकी मैं वन्दना करता हूँ।"

श्री भद्रबाहुस्वामी श्री आवश्यकनिर्युक्ति में फरमाते हैं कि श्री तीर्थंकर देवों का जहाँ जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण निश्चित रूप से हुआ हो, उस भूमि के स्पर्श से सम्यक्त्व दृढ़ होता है।

श्री महावीर स्वामी के हस्तदीक्षित शिष्य, अवधिज्ञान को धारण करने वाले **श्री धर्मदासगणी श्री उपदेशमाला प्रकरण** में कहते है कि—श्रावक जिनराज के पाँचों कल्याणकों के स्थान पर यात्रा के लिये जावे। स्थावर तीर्थ की यात्रा से अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

श्री महाकल्प सूत्र में तीर्थयात्रा के उत्तम फल का वर्णन है। यद्यपि अपने रहने के स्थान पर भी मन्दिर होते है, पर तीर्थयात्रा में उसकी अपेक्षा विशेष लाभ होता है क्योंकि घर पर तो व्यापार, रोजगार, सगे-सम्बन्धी आदि की चिन्ताएँ रुकावट डालती है। पूरा दिन उसी के संकल्प-विकल्प में रहने से धर्मध्यान में चित्त स्थिर नही रह सकता, परन्तु घर छोड़ने के पश्चात् ये सब उपद्रव दूर हो जाते है तथा साथ में अन्य सार्धमिक बन्धु होने से उनके साथ धार्मिक चर्चा से मन प्रफुल्लित होता है; शास्त्र का ज्ञान मिलता है; मार्ग में अनेक गाँव व शहर पड़ते है, जहाँ उत्तम

साधुजनो तथा सुज्ञ श्रावको का सम्पर्क मिलने से नवीन शिक्षा तथा बोध की प्राप्ति होती है।

तीर्थभूमि मे ऐसे अनेक सज्जनो से मिलने का लाभ होता है तथा उनके समीप रहने से बहुत फायदा होता है। घर पर ऐसे महात्मा व उत्तम पुरुषो का समागम कदाचित् ही मिल पाता है और समयाभाव होने से उनसे विशेष लाभ भी नही लिया जा सकता।

तीर्थभूमि पर श्री तीर्थंकर, श्री गणधर तथा अन्य उत्तमोत्तम व्यक्तियो का निर्वाण हुआ है अत वे याद आते हैं और उनका गुणानुवाद करने का उत्तम प्रसग मिलता है। यह बुद्धि निर्मल होने का एक विशेष साधन है तथा पूज्य पुरुष जिस राह पर चलकर गुणवान हुए, उस राह पर चलने की हमारी भी इच्छा होती है। उस समय ससार असार सा लगता है तथा उससे विरक्त होकर मन आत्मचिन्तन करता है, परभाव मे रमण करने की इच्छा नही होती। आत्मिक गुणो को प्रगट करने के अनेक साधन प्राप्त होने से उसमे प्रयत्नशील बना जा सकता है।

जिस-जिस प्रकार से आत्मविशुद्धि हो सकती है, उन सब उपायो को जुटाने का बहुमूल्य अवसर मिलता है। कितने ही ध्यान-प्रिय लोग पहाड की गुफाओ मे जाकर, एकान्त मे बैठकर आत्मा तथा जड के विभाग तथा दोनो मे रहने वाली भिन्नता का विचार करते है, धर्मध्यान मे तल्लीन बनते है और शुक्ल-ध्यानादि किया जा सके, उसके लिए अभ्यास करते हैं।

अधिक शुद्धि का दूसरा कारण भी यह है कि उत्तम मनुष्यो के शरीर के पुद्गल-परमाणु वहाँ फैले हुए है। वे सब उत्तम

होते है। जब भी क्षपक श्रेणी करने की इच्छा हो तब वज्रऋषभनाराच संघयण की परम आवश्यकता है। उसके बिना उत्तम ध्यान हो ही नहीं सकता। इससे पुद्गल की सहायता भी आवश्यक है।

जिन व्यक्तियों की मुक्ति निकट में होती है, ऐसे उत्तम पुरुषों के शरीर में ध्यान को पुष्ट करने वाले पुद्गल एकत्र हो चुके होते है। अब वे तो निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं, परन्तु उनके वे पुद्गल उनकी निर्वाणभूमि में बिखरे हुए होते हैं। वहाँ अधिकतर अच्छे पुद्गलों का ही समूह होता है और वे अपने में प्रवेश कर जाते है। यद्यपि बहुत समय बीत गया है, फिर भी वे सभी पुद्गल नष्ट नहीं होते।

ऐसे पवित्र स्थान पर पुण्यवान स्त्री-पुरुषों के ऐसे निर्मल पुद्गलों के स्पर्श से बुद्धि कितनी निर्मल होती होगी, इसका अनुमान अनुभव बिना नहीं लगाया जा सकता। हो सकता है, दुर्भागी मनुष्य को वहाँ अच्छे के बदले खराब पुद्गलों का स्पर्श हो जाय, तो यह उनके कर्म का ही दोष है। मुख्य रूप से तो वहाँ उत्तम पुद्गलों का ही सद्भाव है। इस प्रकार घर की अपेक्षा तीर्थयात्रा में कई गुणा लाभ प्राप्त होता है और धर्मध्यान निर्विघ्न एवं सुगम बन जाता है।

प्रश्न ६०—भगवान की पूजा, पूजक को हितकारी है फिर भी चिन्तामणि रत्न की तरह उसका फल तुरन्त क्यों नहीं प्राप्त होता ?

उत्तर—इस विषय में दीर्घदृष्टि से विचार करने की जरूरत है। प्रत्येक वस्तु को जिस काल में फलने का होता है, वह उस

काल मे फलती है। कहावत है कि—'जल्दी से ग्राम नही पकते" जैसे कि खेत मे बीज बोने के बाद उसका समय पूर्ण होने पर ही ग्रनाज पकता है, पहले नहीं।

गर्भस्थिति प्राय नौ महीने बीतने के बाद ही प्रसूति होती है। वनस्पति, फल, फूल भी एकदम नही पकते। चक्रवर्ती राजा, इन्द्रदेवता प्रमुख की, की हुई सेवा तत्काल नही, पर समय ग्राने पर ही फल देती है। मन्त्र-जाप भी कोई हजार जाप से तो कोई लाख व कोई करोड जाप से सिद्ध होता है। रोगनिवारण के लिये की हुई दवा भी स्थिति पकने पर ही ग्रसर करती है। पारा सिद्ध करते बहुत समय लगता है। इस प्रकार सभी कार्य ग्रपनी-ग्रपनी ग्रवधि पूरी होने पर ही फल देते है।

इसी प्रकार इस भव मे भावसहित की हुई द्रव्यपूजा का महान् पुण्य भवान्तर मे भोगा जा सकता है तथा सामान्य पूजा का सामान्य पुण्य तो कदाचित् इस जन्म मे भी भोगा जा सकता है। उत्तम फल देने वाले कार्यो मे ज्ञानी पुरुषो को जल्दबाजी या चिन्तातुर नही होना चाहिए। चिन्तामणि रत्न ग्रादि से मिलने वाला फल, पूजा के फल की तुलना मे किसी गिनती मे नही। वह तो तुच्छ फल को देने वाला है तथा वह परभव मे नही पर इस मनुष्य भव मे ही जो ग्रधिकतर ग्रल्प समय के लिए होता है, उसी मे फल देता है। परन्तु पूजा से उपार्जित पुण्य का फल बहुत बडा होने से ग्रधिक समय मे भोगने योग्य होता है। वह दीर्घकालीन देवताग्रो के ग्रायुष्य मे ही हो सकता है। इसलिये वह महान् पुण्य, जीव को दूसरे जन्म मे उत्पन्न होने के बाद ही उदय मे ग्राता है।

यदि इस भव में ही वह प्राप्त हो जाय तो मनुष्य की ग्रायु

सामान्य रूप से अल्प होने से तथा मनुष्यशरीर रोगी एवं शीघ्र नाशवान होने से उसे भोगते हुए मृत्यु हो जाने से वह पुण्य रूपी डोरी बीच में ही टूट जाती है तथा उस बीच मौत रूपी महादुःख भोगना पड़ता है जिसकी तुलना में अन्य कोई दुःख विशेष भयकर नही। ऐसे बड़े पुण्य का फल भोगते हुए बीच में मृत्यु का आ जाना कितना बड़ा अनिष्ट गिना जाता है? जरा सोचो कि—

किसी गाँव की तुच्छ झोपड़ी में रहने वाला गरीब मनुष्य, परदेश जाकर करोड़ों रुपये कमा कर घर लौट आया। वह क्या इस छोटी झांपड़ी में अपनी अपार दौलत का भोग कर सकेगा? कभी नहीं। उस धन का भोग करने के लिए भव्य महल-हवेली उस स्थान पर बनवानी पड़ेगी। ऐसा करने में उस पुरानी झोंपड़ी का अवश्य नाश करना ही पड़ेगा।

झोंपड़ी की तरह तुच्छ मनुष्य का यह शरीर है और करोड़ों की दौलत रूपी उस पूजा का महापुण्य है। जैसे झोंपड़ी में बैठे-बैठे वह पुरुष अपार धन का भोग नहीं कर सकता, वैसे ही इस क्षणभंगुर रोगी, मानव-देह में रहा हुआ जीव महापुण्य का फल नहीं भोग सकता। वह पुरुष जैसे झोंपड़ी छोड़ कर आलीशान महल बनाकर वैभव की सामग्री जुटाता है, वैसे ही जीव भी अपने अल्पकालीन झोपडी-रूप शरीर को छोड़कर महल रूपी देव आदि के उत्तम शरीर को प्राप्त कर उसके द्वारा पुण्य का स्वाद दीर्घकाल तक भोगता है।

जैसे बड़े परिश्रम से प्राप्त मूल्यवान वस्तु लम्बे समय तक भोगते रहने पर भी नष्ट नही होती, वैसे श्री जिनपूजादि शुभ कार्यों से उपार्जित पुण्य भी अधिक समय तक भोगते रहने पर भी

समाप्त नही होता। अत किसी भी समय कोई उत्कृष्ट भाव आ जाय और पूजा से महापुण्य बँध जाय तो उसी अनुक्रम से उच्च गति मे पहुँच जायेंगे, यावत् श्री तीर्थंकर गोत्र का भी बँध जिन-पूजा मे होता है।

प्रश्न ६१—सूर्याभ देवता ने श्री महावीर भगवान के पास नाटक करने को कहा, तब प्रभु मौन क्यो रहे? वह सावद्य कार्य था इसीलिये न?

उत्तर—उस समय सूर्याभदेव ने क्या कहा, उस विषय मे श्री रायपसेणी सूत्र के नीचे के पाठ पर ध्यान दो।

'अहण्ण भंते! देवाणुप्पियाण भत्तिपुव्वयगोयमाईण समणाण निग्गंथाण बत्तीसइबद्ध नट्टविहि उवदंसेमि।"

"हे भगवन्! मैं आपके सामने भक्तिपूर्वक गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थो को बत्तीस प्रकार का नाटक बताऊंगा।"

सूत्रकार तो "भक्ति-पूर्वक" लिखते है, फिर भी उसको मन मे—कल्पित रूप मे सावद्य कह देना कितना अनुपयुक्त है? साथ ही सूर्याभ ने प्रश्न के रूप मे नही पूछा, बल्कि अपनी इच्छा प्रगट की है। ऐसी बातचीत मे जवाब देने की जरूरत मना करते समय ही रहती है, स्वीकार करते समय नही। अगर सवाल के रूप मे पूछा होता तो सूर्याभ जैसा महाविवेकी भगवान के जवाब के बिना कार्य का प्रारम्भ नही करता। जैसे कोई नौकर किसी कार्य के लिए आज्ञा पाने हेतु अपने स्वामी से प्रश्न करे, फिर भी आज्ञा के रूप मे जवाब प्राप्त किये बिना वह नौकर यदि कार्य शुरू कर दे तो वह महाअविवेकी और आज्ञा का

उल्लंघन करने वाला ही गिना जायेगा। परम सम्यक्त्ववान् सूर्याभ को ऐसा कैसे माना जा सकता है? भक्ति की इच्छा प्रगट करने के वाक्य में मौन रहने से, आज्ञा ही समझी जाती है और मना करना हो तभी बोलने की आवश्यकता रहती है।

जैसे श्रावक गुरु के पास आकर इच्छा व्यक्त करता है कि—'हे गुरुजी! मैं आपकी भक्तिपूर्वक वन्दना करूँ।' अब यदि गुरु कहते है कि—"हाँ, करो।" तो इससे स्वयं के मुख से ही स्वयं को वन्दन करने का कहने से गुरु मानलोभी कहलाता है और यदि 'ना' कहे तो गुरुवन्दन का कार्य सावद्य कहा जाकर उसका निषेव हो जाता है। इस प्रकार—"सरोते के बीच सुपारी" जैसी दशा हो जाती है। तब इस कार्य को निरवद्य जानकर गुरु के लिए चुप रहने के सिवाय कोई रास्ता नही।

जैसे कोई कसाई यदि गुरु के पास आकर एक जीव को उसकी भक्ति के रूप से मारने का कहे तो गुरु क्या जवाब देगा? यदि चुप रहे तो कसाई समझेगा कि—"साधु की इस कार्य में अनुमति होने से मुझे नही रोकते" और फलस्वरूप वह मारने लग जाएगा। पर यदि साधु ऐसा कहे कि, "यह काम सावद्य होने से इसमें भक्ति नहीं है" तभी वह मारने से रुकेगा।

आजकल के अल्पज्ञानी साधु भी सावद्य-निरवद्य तथा भक्ति-अभक्ति के हेतु को जानकर योग्य वर्तन करते हैं, तो फिर जगद्गुरु सर्वज्ञ भगवान अथवा गौतमस्वामी महाराज आदि नाटक-पूजा को सावद्य समझते तो क्या उसका निषेध नहीं करते?

"भक्तिपूर्वक" शब्द शास्त्रकारो ने काम में लिया है इससे

सूर्याभदेव की भक्ति प्रधान है और भक्ति का फल **श्री उत्तराध्ययन** सूत्र के २६ वें अध्ययन मे मोक्ष तक का कहा है। क्षायिक सम्यक्त्वी, एकावतारी, तीन ज्ञान के स्वामी सूर्याभदेव क्या देव-गुरु भक्ति की विधि को नही जानते होगे। साथ ही भगवान तथा दूसरे सूत्रकारो ने भी इस कार्य मे भक्ति का समावेश किया है और इसी कारण उसका निषेध नही किया।

अगर मौन रहने का अर्थ निषेध ही करें तो **श्री भगवती सूत्र के ११वें शतक** मे कहा है कि—श्री वीरप्रभु के मुख से बहुत से श्रावको ने ऋषिभद्र की प्रशसा सुनकर उनको वन्दन किया, अपराधो की क्षमा मागी तथा बारहवे शतक मे भी ऐसा उल्लेख है कि भगवान के मुख से शखजी श्रावक की प्रशसा सुनकर श्रावको ने उनकी खूब वन्दना की तथा बहुत से श्रावको ने उनसे क्षमायाचना की। इन दोनो प्रसगो पर भगवान चुप रहे। यदि भगवान के मौन के कारण इन कार्यो को उनकी आज्ञा के विरुद्ध कहोगे तो यह बात कोई नही स्वीकारेगा। क्योकि—'भगवान ने सब कुछ जानते हुए भी श्रावको की प्रशसा क्यो की तथा वन्दन करते हुए श्रावको को क्यो नही रोका? ऐसा प्रश्न खडा होगा।

श्री जीवाभिगम, श्री भगवतीजी तथा श्रीठाणागसूत्र मे देवतागण श्री नन्दीश्वर द्वीप मे अट्ठाई महोत्सव, नाटक इत्यादि करते है, उनको आराधक कहा है, न कि विराधक।

श्री रायपसेणी सूत्र मे भी सूर्याभदेव के सेवको ने समवसरण के विषय मे भगवान से कहा, तब भगवान ने उनकी प्रशसा की है। श्री ज्ञातासूत्र आदि मे कहा है कि श्री पार्श्वनाथजी की

अनेक साध्वियाँ चारित्रविरोधी, तपस्विनियाँ वनी और अज्ञान तपस्या के प्रभाव से श्री महावीर परमात्मा के सम्मुख उन्होंने कई प्रकार के नाटक किये जिसका फल गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान ने फरमाया कि—

"इस नाटक की भक्ति करके उन्होंने एकावतारीपने को प्राप्त किया है।"

कितने ही कहते है कि—मृगापृच्छा में भी साधु यदि मौन धारण करे तो वहाँ क्या अर्थ समझना ? मृगापृच्छा में साधु को मौन रहने का कही भी नहीं कहा है। **श्री आचारांग सूत्र** के दूसरे श्रुतस्कन्ध में कहा है कि—

"जाणं वा नो जाणं वदेज्जा"

अर्थात्—साधु जानता हो तो भी कहे कि—मैं नही जानता हूँ, अथवा मैंने नहीं देखा, ऐसा ही कहे।

श्री भगवती सूत्र के आठवे शतक के पहले उद्देस में लिखा है कि—

"सच्चमणप्पओगपरिणया··· मोसवयाप्पओगपरिणया"

अर्थात्—मृगापृच्छादि में मन में तो सत्य है और वचन में मिथ्या है।

श्री सूयगडांग सूत्र के आठवे अध्ययन में भगवान फरमाते है कि—

"सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ"

मृगापृच्छादि विना असत्य न वोले, यह सयमियो का धर्म है। अर्थात् उस समय असत्य भाषा वोले, ऐसी प्रभु की आज्ञा है।

प्रश्न ६२—ज्ञान की महत्ता विशेष है या क्रिया की ?

उत्तर—ज्ञान के विना सत्य-असत्य का पता नही चलता। ज्ञान के विना जगत् का स्वरूप समझ मे नही आता। ज्ञान के अभाव मे देव, गुरु और धर्म के लक्षणो की पहचान नही होती। ज्ञान के विना धर्मक्रियायें अधक्रियाओ की भाँति अल्प फल देने वाली होती है। शुद्ध ज्ञान रहित क्रिया तो केवल अज्ञान कष्ट है। उससे उच्चगति प्राप्त नही की जा सकती क्योकि जमाली, गोशालक आदि ने क्रिया पूरी पाली। उनके समान दया कौन पाल सकता था ? फिर भी भगवान की आज्ञाविरुद्ध प्रवृत्ति होने से वे ससार का क्षय नही कर सके।

जो एकान्त क्रिया से वडा स्वाग रचकर, गुरु वनकर ससार को ठगते हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि जमाली आदि के सामने उनकी क्रिया किस अनुपात मे है ? मिथ्यात्व रूप से की हुई क्रिया के द्वारा देवगति आदि के सुख भले ही मिलें, पर उससे ससार-भ्रमणता कम नही होती। जगल मे रहने वाले, हाथ मे ही भोजन करने वाले, महान् कष्टो को सहन करने वाले, नग्न घूमने वाले, व्रतधारी और तपस्वी मिथ्यात्वी ऋषि-मुनियो के वरावर का वर्तमान मे कोई लक्षाश भाग भी क्रिया पालन करते हुए दिखाई नहीं देता, तो केवल क्रिया पक्ष वालो को तो ऐसे ही गुरु को धारण करना चाहिए।

शास्त्रकार कहते है कि "करोडो वर्षों तक पचाग्नि तप-जप

उत्तर—गत जन्म में किये गये कुकर्मों के अनुसार वर्तमान जन्म का मूल्यांकन किया जाय, तब तो अनेक महापुरुषों ने भी अपने पूर्व भवों में अनेक गलत कार्य किये है, अतः आपके नियमानुसार तो वे भी पूज्य नही गिने जायेंगे। वर्तमान गुरु आदि भी वन्दनीय नहीं रहेगे, क्योंकि उन्होंने भी पूर्व जन्म में अनेक ऐसे कार्य किए है, जिसके फलस्वरूप उन्हें भी संसार-चक्र में भ्रमण करना पड़ा है और उन्हें कायक्लेश आदि महान् व्यथाएँ सहन करनी पड़ी है। यदि उन्होंने एक मात्र शुभ ही कार्य किये होते तो उनका स्थान मुक्ति में ही होता।

पूर्व जन्म का विचार तो एक ओर रहने दें, इस जीवन में भी उन्होंने गृहस्थ जीवन में आजीविका आदि के अनेक पाप किये होंगे, अतः सबसे पहले वे ही अवन्दनीय बन जाएंगे। कर्म के प्रभाव से आत्मा को अनेक विडम्बनाएँ सहन करनी पड़ती है, अतः भवचक्र में पूर्व में किए गए अनुचित कार्यों के आधार पर इस जीवन का एकान्ततः मूल्यांकन नहीं हो सकता है।

प्रश्न ६४—पाँच पति करने वाली द्रौपदी को श्राविका कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—तीर्थंकर, वासुदेव, चक्रवर्ती तथा अन्य राजा महाराजा व श्रेष्ठियों के हजारों रानियाँ व स्त्रियाँ होते हुए भी शास्त्रकारों ने उन स्वदारासन्तोषी जनों को परम सम्यग्दृष्टि श्रावक गिना है और अनेक तो उसी भव में मोक्ष में भी गए है। इस न्याय से द्रौपदी के द्वारा पूर्वकृत निदान के फलस्वरूप जन-साक्षी में अनासक्त भाव से पाँच पुरुषों के साथ विवाह किया गया था। इस कारण उसके शीलव्रत को किसी प्रकार की हानि नही

पहुँच सकती है, क्योंकि शास्त्रकारो ने उसे महासती कहा है। निदान के फलस्वरूप द्रौपदी का दृष्टान्त एक अपवाद रूप होने से अन्य स्त्रियाँ उसका अनुसरण नही कर सकती है।

प्रश्न ६५—विवाह के प्रसग मे योग्य वर की प्राप्ति के लिए द्रौपदी ने कामदेव की पूजा की है, जिनप्रतिमा की नहीं, क्या यह बात बराबर है ?

उत्तर—सोचने की बात यह है कि महान् ऋद्धिमान्, निर्मल सम्यक्त्व के स्वामी और एकावतारी सूर्याभदेव के द्वारा की गई जिनप्रतिमा की पूजाविधि का निर्देश द्रौपदी की पूजा के अधिकार मे किया गया है। इससे सूर्याभदेव सम्यग्दृष्टि है, उसी प्रकार द्रौपदी भी सम्यग्दृष्टि ही सिद्ध होती है तथा सूर्याभदेव ने जिस प्रकार श्री जिनमूर्ति की सत्रह भेद से पूजा की है, उसी प्रकार से द्रौपदी की पूजा भी सत्रह प्रकार की है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि सम्यग्दृष्टि की और मिथ्यादृष्टि की देव-पूजाविधि तथा भावना मे बड़ा अन्तर है। सलाह सूचन वाले दोनो व्यक्ति समानधर्म का पालन करने वाले हो, तभी सलाह दी जा सकती है, अन्यथा नही।

द्रौपदी ने कामदेव आदि जैसे मिथ्यात्वीदेव की पूजा की होती तो उसकी तुलना भी मिथ्यात्वी पुरुष की पूजा से की जाती, परन्तु यहाँ तो सूर्याभदेव जैसे दृढ सम्यक्त्वधारी देव के साथ तुलना की गई है तो फिर द्रौपदी को भी समकितधारी श्राविका कहने मे क्या आपत्ति है ?

योग्य वर की प्राप्ति के लिए द्रौपदी ने पूजा की होती तो उसकी स्तुति भी इस प्रकार होनी चाहिए—'हे कामदेव ! यदि

आपकी सेवा से खूबसूरत और गुणवान वर मिलेगा तो मैं अमुक कीमत की मिठाई आपको चढाऊंगी ।'

....परन्तु द्रौपदी ने उपर्युक्त प्रार्थना तो नहीं की है, बल्कि उसने 'नमुत्थुणं अरिहन्ताणं भगवंताणं' अर्थात् 'अरिहन्त परमात्मा को नमस्कार हो'-इस प्रकार अरिहन्त परमात्मा का नाम लेकर ही स्तुति की है, फिर भी कामदेव का झूठा नाम देना योग्य नहीं है ।

'नमुत्थुणं-सूत्र' में भी उसने कौनसी मांग की है ?

'तिन्नाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोअगाणं, सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं'–अर्थात् "हे परमात्मा ! आप तर चुके हो और मुझे तारो । आप केवलज्ञान प्राप्त कर चुके हो और मुझे भी प्राप्त कराओ । आप कर्म से मुक्त बने हुए हो और मुझे भी कर्म से मुक्त करो ।"

उपर्युक्त प्रार्थना के द्वारा उसने मोक्षफल की ही याचना की है । क्या अरिहन्त को छोड़कर कोई मिथ्यात्वीदेव मोक्ष देने में समर्थ है ? अथवा अनुपम गुणयुक्त अन्य कोई देव है, जिसकी इस प्रकार से स्तुति हो सकती है ?

अन्त में उसने कहा है—**'सिद्धिगइनाम-धेयं ठाणं संपत्ताणं'**-सिद्धिगति नामक स्थान को जिन्होने प्राप्त किया है ।....तो सोचे श्री अरिहन्त (सिद्ध) को छोड़कर अन्य कौनसे देव सिद्धगति नामक स्थान को प्राप्त हो चुके हैं ?

इस सूत्र में 'सुयोग्य पति की याचना' का कोई शब्द ही नही

है। फिर भी सम्यग्दृष्टि श्राविका के लिए अयोग्य कल्पना करना, क्या उचित है ?

प्रश्न ६६—'नमोत्थुण' का पाठ अन्य देवों के पास नहीं कह सकते हैं तो फिर अम्बड श्रमणोपासक के सात सौ शिष्यों ने अपने गुरु के सामने वह पाठ क्यों कहा ?

उत्तर—'नमोत्थुण' में वर्णित गुण अरिहन्त सिवाय अन्य किसी देव में नहीं हो सकते हैं। इस कारण शास्त्र में कहीं भी अन्य देव के सामने कहे हुए का उल्लेख नहीं है।

अम्बड सन्यासी श्रावक के सात सौ शिष्यों ने 'नमोत्थुण' सूत्र जिस प्रकार कहा था, उसका उल्लेख 'श्री उववाई सूत्र' में निम्नानुसार है—

'नमोत्थुण अरिहंताण भगवंताण जावसंपत्ताण,
णमोत्थुण समणस्स, भगवओ महावीरस्स,
जाव संपाविउकामस्स, नमोत्थुण अबडस्स,
परिवायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धमोवए सगस्स,

अर्थ—(वे ७०० शिष्य हाथ जोड़कर इस प्रकार कहते हैं।) 'नमस्कार हो अरिहन्तों को, यावत् मोक्ष प्राप्त करने वालों को, नमस्कार हो श्रमण भगवान महावीर परमात्मा को, यावत् मुक्ति पाने की इच्छा वालों को! नमस्कार हो अम्बड परिव्राजक को, हमारे धर्माचार्य और धर्मोपदेशक को।

पाठक समझ सकेंगे कि ऊपर के प्रथम दो नमस्कारों में तो 'नमोत्थुण' का पाठ मोक्षगति तक का कहा और पिछले नमस्कार में अपने गुरु को वन्दन किया है, उन्हें अरिहन्त भगवान नहीं कहा

है। तथा उसके स्थान पर अरिहन्त के गुणों के वर्णन वाला **'शक्रस्तव' 'नमोत्थुणं'** नही कहा है। मात्र **'नमोत्थुणं'** नमस्कार हो। इतना एक पद आने मात्र से क्या सम्पूर्ण **'शक्रस्तव'** पाठ आ गया? नही फिर भी ऐसा कहने वाले तो मृषावाद पाप का ही आचरण कर रहे है।

प्रश्न ६७—'द्रौपदी ने तो केवल एक ही बार पूजा की है, इसका उल्लेख है और वह भी मिथ्यादृष्टि अवस्था में। क्योंकि निदान (नियाणा) पूर्ण हुए बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

उत्तर—जिस सूत्र में द्रौपदी के नित्य कर्म का उल्लेख हो, उसी सूत्र में उसके नित्य पूजन का उल्लेख हो सकता है। सर्वत्र तो कहाँ से हो? क्या एक ही एक बात शास्त्रकार बारम्बार लिखते रहेंगे?

विवाह के समय सैंकड़ों राजपुत्र आए हुए थे, उस समय की धमाल के बीच भी द्रौपदी अपने नित्यकर्म-पूजा को भूली नही है और उसने अत्यन्त ही विनयपूर्वक शुभ भाव युक्त होकर शक्रस्तव से परमात्मा की भक्ति की है, क्या वह अन्य शान्ति के समय परमात्मा की पूजा नहीं करती होगी?

सूत्रपाठ से ही स्पष्ट पता चलता है कि वह नित्य पूजा करने वाली है। सम्भव है पद्मोत्तर राजा के वहाँ पराधीन अवस्था में रहने के कारण व जिनमन्दिर आदि की सामग्री का अभाव होने से उसने पूजा नही की हो, फिर भी वहाँ रहते हुए भी छट्ठ, अट्ठम आदि तपश्चर्या स्वाधीन होने से, उसने की ही है।

जिन-पूजा की बात का तो एक बार उल्लेख भी हुआ है, परन्तु भोजन-पान-शयन आदि का तो एक बार भी उल्लेख नही हुआ है, तो क्या वह वे कृत्य नही करती होगी ?

तु गिया नगरी के श्रावको ने साधुओ को एक बार वन्दन किया था इस बात का उल्लेख है तो क्या उन्होने दूसरी बार वन्दन नही किया होगा ?

पूजा करते समय द्रौपदी को सम्यक्त्व था, यह बात आगे सिद्ध कर चुके हैं। निदान की पूर्णाहुति के पहले सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती है —यह बात करना सर्वथा प्रमाण रहित है।

श्री दशाश्रुतस्कन्ध मे नौ प्रकार के निदान कहे गए हैं, उनमे ७ प्रकार के निदान तो कामभोग के है। वे यदि अत्यन्त तीव्र रस मे बाँधे हो तो सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती है और मन्दरस से बाँधे हो तो सरलता मे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

जैसे—'कृष्ण का वासुदेव पद प्राप्ति का निदान मन्द रस वाला होने से वे सम्यक्त्व को प्राप्त कर सके हैं।

यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि 'कृष्ण को वासुदेव की पदवी मिलते ही उनका निदान पूरा होने मे उन्हे सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है और द्रौपदी को पांच पति की प्राप्ति होते ही उसका निदान पूरा हुआ है'—तो यह कहना भी उचित नही है।

निदान समस्त भव आश्रित होने से उसका फल जिन्दगी पर्यन्त भुगतना पड़ता है। निदान वाली वस्तु को प्राप्ति होने के साथ ही यदि निदान पूरा हो जाता हो, तो फिर उस वस्तु का तुरन्त वियोग अथवा नाश होना चाहिए परन्तु वैसा तो बनता

नही है। कृष्ण वासुदेव ने तो जिन्दगी पर्यन्त वासुदेव की पदवी का भोग किया है और द्रौपदी भी अपने पाँच पतियों की हाजिरी में ही देवलोक में गई है।

श्री दशाश्रुतस्कन्ध में नौवाँ निदान दीक्षा का है....तो फिर दीक्षा लेने के साथ ही वह निदान पूरा हो जाना चाहिए, परन्तु शास्त्रकारों ने तो निदान वाले को उसी भव में मोक्ष में जाने का निपेध वतलाया है।

कोई तापस अपनी तपस्या के प्रभाव से आगामी भव मे राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति का निदान करता है तो वह तापस किसी राजा के वहाँ पुत्र के रूप मे जन्म प्राप्त कर, योग्य वय में राजगद्दी पर बैठने के साथ ही उसका निदान पूरा हो जाने से वह दरिद्र वनेगा या राज्य का जीवन-पर्यन्त भोग करेगा ?

तात्पर्य यही है कि मन्दरस के निदान वाले को सम्यक्त्व-प्राप्ति में कोई वाधा नही आती हैं। परन्तु उत्कृष्ट रस वाले निदान वालों को तो वीतराग का धर्म सुनने का भी अवसर नहीं मिलता है, जव कि द्रौपदी ने तो पीछे से संयम स्वीकार किया है।

जिस प्रकार कृष्ण महाराजा सम्यग्दृष्टि श्रावक थे, उसी प्रकार द्रौपदी भी सम्यग्दृष्टि श्राविका थी तथा जीवन पर्यन्त वह सम्यक्त्व में दृढ़ रही थी। **श्री ज्ञाता सूत्र** में भी लिखा है—

"जव द्रौपदी के पास नारद मुनि आए तव उन्हें असंयत, अविरत और अपच्चक्खाण वाले जानकर उसने सम्मान नही दिया, खड़ी होकर उसने नमस्कार भी नहीं किया।"

उसी सूत्र में आगे कहा है—"पद्मोत्तर राजा के अन्तःपुर में

रहकर भी वह हमेशा छट्ठ, अट्ठम आदि तपस्या तथा आत्मा की भावना करती थी।"

इस प्रकार की प्रवृत्ति शुद्ध श्राविका हुए बिना कैसे सम्भव है ?

श्री भगवती सूत्र मे जघन्य से एकव्रत को भी स्वीकार करने वाले को श्रावक कहा है। तथा उस सूत्र मे पच्चक्खाण को उत्तर गुण मे लिखा गया है। श्री 'दशाश्रुत स्कन्ध' मे 'दसण सावए' कहकर सम्यक्त्वधारी जीव को भी श्रावक गिना है तथा 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र की वृत्ति मे द्रौपदी को परम श्राविका कहा है।

कही भी ऐसा नही कहा गया है कि 'विवाह के पूर्व तो द्रौपदी मिथ्यादृष्टि थी और उसके बाद सम्यग्दृष्टि हो गई'-इससे सिद्ध होता है कि वह बाल्यकाल से ही दृढ श्राविका और सम्यक्त्वधारी थी तथा निदान से उसके धर्मकार्य मे कोई बाधा नही पहुँची है।

प्रश्न ६८—स्त्री के द्वारा की गई पूजा को प्रमाण रूप कैसे मान सकते हैं ?

उत्तर—यदि इस मान्यता का स्वीकार करेंगे तब तो चारित्र का पालन करने वाली साध्वी स्त्री के भी सम्यक्त्व सम्बन्धी आचरण को मान्य नही कर सकेंगे। स्त्री द्वारा गृहीत सयम भी निरर्थक हो जाएगा और ऐसी मान्यता मे तो चतुर्विध सघ का एक स्तम्भ ही कमजोर हो जाएगा।

शास्त्र मे लिखा है—'अनेक स्त्रियाँ उत्तम प्रकार के धर्म की आराधना कर मोक्ष मे गई है।' मरुदेवी माता इस अवसर्पिणी

में सर्वप्रथम सिद्ध हुई है। **श्री मल्लिनाथ स्वामी** स्त्री रूप में तीर्थंकर हुए है। चन्दनबाला ने महावीर प्रभु का अभिग्रह पूर्ण किया था। इत्यादि अनेक प्रशंसनीय कार्य इस काल चक्र में स्त्रियों ने किए हैं।

पुरुषों को तो पूजा की सामग्री मिलना सुलभ है परन्तु स्त्रियो को दुर्लभ होने पर भी द्रौपदी ने पूजा की है। इसी कारण उसके शुभ कार्य की शास्त्रकर्त्ताओ ने विस्तार से प्रशंसा की है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि पुरुषों को तो पूजा का कार्य अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न ६९—द्रौपदी की पूजा के लिए सूर्याभदेव की पूजा का सूचन किया, तब किसी श्रावक की पूजा का सूचन क्यों नहीं किया ?

उत्तर—शास्त्रकार महर्षि श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने **श्री रायपसेणी** सूत्र में सूर्याभदेव के अधिकार में श्री जिनप्रतिमा की पूजा का सविस्तर वर्णन किया है, उसका निर्देश अन्य स्थान में किया है। क्योंकि एक ही बात का उल्लेख बारम्बार करने में आए तब तो शास्त्र का प्रमाण अत्यधिक बढ़ जाता है। उस भय से शास्त्रकार महर्षि एक-दूसरे सूत्र का निर्देश कर देते है। श्री महावीर परमात्मा तथा गणधर भगवन्तों ने तो हर स्थान पर सम्पूर्ण वर्णन किया था, परन्तु शास्त्रकार सूत्र को संक्षिप्त करने की इच्छा से एक-दूसरे सूत्रों का निर्देश कर देते हैं।

दूसरा कारण यह है कि कई लोग 'शाश्वती जिनप्रतिमाओं की देवता पूजा करते है', यह बात तो स्वीकार करते है, किन्तु अशाश्वती मूर्ति मानने का निषेध करते है। उनके अन्तर्चक्षु

खोलने के लिए ही सूर्याभदेव की उपमा दी गई है। जैसे—श्री रायपसेणी सूत्र के कथनानुसार देवतागण निरन्तर शाश्वती मूर्तियो की पूजा कर अपना हित तथा कल्याण साधते हैं और अनुक्रम से मोक्ष की साधना करते है। उसी प्रकार श्रावक और श्राविकाएँ भी यहाँ रहकर श्रीजिन प्रतिमा के पूजन से उनके (देवताओ) समान आत्म कल्याण साधकर ससार-समुद्र का पार पा सकते है।

शास्त्रकारो का यह भी अभिप्राय है कि—शाश्वती और अशाश्वती दोनो प्रकार की मूर्तियो के पूजन से एक समान फल प्राप्त होता है।

शाश्वती प्रतिमा का आदर करने के बाद अशाश्वती प्रतिमा का अनादर करना, महामूर्खता का ही काम है। दोनो प्रकार की प्रतिमाएँ एक समान सम्माननीय है। क्योकि वे दोनो एक ही देव की हैं, अलग-अलग देव की नही हैं कि जिससे एक का बहुमान और दूसरे का अवहुमान हो जाय।

एक कारण यह भी है कि देवताओ की शक्ति अचिन्त्य होने मे वे जितने भाव से पूजा करते हैं, उतने भाव से प्राय मनुष्य न कर सके, फिर भी द्रौपदी मनुष्य और उसमे भी स्त्री होने पर भी उसने महान् सूर्याभदेव के समान बडे आडम्बर के साथ जिनपूजा की है तथा सूर्याभदेव जैसे निश्चय सम्यग्दृष्टि है उसी प्रकार द्रौपदी भी परम श्राविका है। यह बात बताने का भी शास्त्रकारो का उद्देश्य है।

जिस विधि से शाश्वती प्रतिमाएँ पूजी जाती है, उसी विधि से अशाश्वती प्रतिमाएँ पूजने से भी, अपने-अपने भाव के अनुसार

समान फल प्राप्त कर सकते हैं, यह बात भी फलित हो जाती है।

अन्य किसी श्रावक की उपमा न देने का कारण यह भी है कि आनन्द आदि श्रावकों के वर्णन मे शास्त्रकारों ने पूजाविधि में सूर्याभदेव के अधिकार की तरह सम्पूर्ण विवेचन नहीं किया है, अतः दूसरों का निर्देश कैसे हो सकता है? जिस स्थान मे विशेप जानकारी दी हो, उस स्थान का नाम ही दिया जाता है।

प्रश्न ७०—श्री भगवती सूत्र में कहा है—'यदि कोई साधु नन्दीश्वर द्वीप जाय और वापस भरतक्षेत्र में आकर 'इरियावहिय' प्रतिक्रमण किए विना कालधर्म पा जाय तो जिनाज्ञाविराधक बनता है और आलोचन करने के बाद काल करे तो आराधक कहलाता है।" तथा श्री समवायांगसूत्र में भी कहा है कि "जंघाचारण और विद्याचारण मुनि १७००० योजन से कुछ अधिक सीधे आकाश में उड़कर फिर तिरछी गति करते हैं"-इस प्रकार मुनियों के गमनागमन को सिद्ध करने वाले बहुत से पाठ हैं। परन्तु नन्दीश्वर द्वीप की यात्रा के लिए जाते समय जो आलोचना आती है तो फिर उस यात्रा से क्या प्रयोजन है?

उत्तर—वहाँ जो आलोचना है वह तो प्रमादगति की है। लब्धि का उपयोग करने से मुनियों को प्रमादगति होती है, उसकी यह आलोचना है परन्तु चैत्यवन्दन आदि की आलोचना नहीं है। तीर के वेग के समान चारण मुनियों की गति का उतावला स्वभाव होने से मार्ग मे शाश्वत-अशाश्वत जिनमन्दिर रह जाते है, उसका मन में खेद उत्पन्न होता है। वह भी प्रमादगति है। इसलिए उसकी आलोचना आती है।

श्री दशवैकालिक सूत्र मे कहा है कि साधु गोचरी लाकर गुरु के पास सम्यक् प्रकार से आलोचना करे-वह आलोचना गोचरी की नही, परन्तु उसमे प्रमाद के कारण आने-जाने से उपयोग नही रहने से जो कोई दोष लगा हो, उसकी आलोचना की जाती है। साधु को जाते-आते, प्रतिक्रमण अथवा अन्य कोई क्रिया करते आलोचना के रूप मे 'इरियावहिय' प्रतिक्रमण करने का है। वह प्रमाद को लेकर है न कि शुभ क्रियाओ को लेकर।

प्रश्न ७१—जघाचारण तथा विद्याचारण मुनि श्री नन्दीश्वर द्वीप मे 'चेइयाइ' शब्द से ज्ञान का आराधन करते हैं, किन्तु प्रतिमा को वन्दन नहीं करते हैं। क्या यह बात बरावर है ?

उत्तर—श्री ठाणाग तथा श्री जीवाभिगम सूत्र मे नन्दीश्वर आदि द्वीपो मे शाश्वती प्रतिमाएँ होने का कथन विस्तारपूर्वक है। जम्बूद्वीप पण्णत्ति सूत्र मे मानुपोत्तर पर्वत के १३ कूटो के नाम गिनाकर प्रत्येक कूट पर तथा देवताओ के समस्त भवनो मे सिद्धायतन (जिनमन्दिर) को बताने वाले पाठ है। उनकी वन्दना करने के लिए लब्धिवन्त मुनि जाते है। ऐसा प्राय सर्व जैन मानते हैं। फिर भी 'चेइयाइ' शब्द का अर्थ मन-कल्पित 'ज्ञान' कर उत्सूत्र प्ररूपणा करना महादोषयुक्त कार्य ही है 'चैत्य' शब्द का ज्ञान अर्थ किसी भी व्याकरण को सम्मत नही है। ज्ञान तो अरूपी वस्तु होने से उसका ध्यान तो घर बैठे भी हो सकता है। इसके लिए श्री नन्दीश्वर द्वीप जाने का क्या कार्य है ? तथा ज्ञान तो एकवचन मे है और 'चेइयाइ' शब्द बहुवचन मे है—इसमे भी उसका अर्थ 'प्रतिमा' को छोडकर अन्य नही हो सकता है।

प्रश्न ७२—देवताओं को श्री भगवती सूत्र में 'नो धम्मिश्रा' कहा गया है। उनके द्वारा की गई मूर्तिपूजा कैसे प्रामाणिक मानी जाय ?

उत्तर—उस स्थान में तो चारित्र की उपेक्षा से **'नो धम्मिश्रा'** कहा गया है। जैसे श्री **भगवती सूत्र** में देवताओं को **'बाल'** कहा गया है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्षमार्ग में से देवताओं को सम्यग्ज्ञान और दर्शन होता है परन्तु चारित्र की प्राप्ति नहीं होने से उन्हे **'नो संयति'** भी कहा गया है। **श्री ठाणांग सूत्र** में सम्यक्त्व को संवर धर्म कहा है। जिनप्रतिमा का पूजन सम्यक्त्व का आचरण है, उस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि देवों को चारित्र की अपेक्षा **'बाल' 'नो संयति'** और **'नो धम्मिश्रा'** कहा है, किन्तु सम्यग्दर्शन या ज्ञान की अपेक्षा से नहीं।

श्री भगवती सूत्र के पाँचवें शतक के चौथे उद्देश में कहा है कि—

'देवाणं भंते। असंजताति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! णो तिणट्ठे, णिट्ठुरवयणमेयं। देवाणं भंते ? संजयासंजयाति वत्तव्वं सिया ?

गोयमा ! णो तिणट्ठे समट्ठे, असब्भूयमेयं देवाणं, से किं खाति णं भंते ! देवाति वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! देवाणं नो संजयाति वत्तव्वं सिया।"

इससे सिद्ध होता है कि देवताओं को असंयती नही कह सकते है और ऐसा कोई बोले तो वह महानिष्ठुर वचन कहलाता है। देवताओं को सयति कहे तो अभ्याख्यान लगता है और देवों को

सयतासयति कहे तो असद्भूतवचन कहलाता है अत देवताओ को 'नो सयति' कहना ही जिनेश्वरदेवो की आज्ञा है।

'नो सयति' का अर्थ अधर्मी करोगे तो प्रश्न खडा होगा देवताओ को असयति (अधर्मी) कहने का निपेध क्यो किया ?

'नो धम्मिआ' और 'नो सयति' का अर्थ 'धर्मी नही' सयति नही' ऐसा करेंगे तो आज्ञाभग के दोप के बावजूद दूसरे भी दोप आ जाएगे।

सूत्रो मे स्थान-स्थान पर 'नो कपाय', 'नो इन्द्रिय', 'नो सञा' 'नो आगम' इत्यादि शब्द आते हैं उनका अर्थ अकपाय, अनिन्द्रिय अनागम इत्यादि करोगे तो शास्त्र विरुद्ध अर्थ हो जाएगे। ऐसे स्थान पर 'नो' का अर्थ सर्व निपेध नही किन्तु देश निपेध करना चाहिए। इसी न्याय से 'नो सयत' आदि पदो का अर्थ अधर्मी अथवा असयति न कर ईपद्धर्मी, ईपद्सयमी आदि करना चाहिए।

श्री आचाराग, श्री दशाश्रुतस्कन्ध तथा श्री ज्ञातासूत्र मे भी कहा है कि लोकान्तिकदेव अनन्त काल से ही स्वयबुद्ध तीर्थंकर परमात्मा को दीक्षाकाल का स्मरण कराते हुए कहते है— "हे भगवन् ! जगत् को हितकर तीर्थ प्रवर्ताओ।" ऐसे विवेकी देवताओ को कौन अधर्मी कह सकेगा ?

श्री दशवैकालिक सूत्र मे देवताओ को मनुष्य की अपेक्षा महाविवेकी और बुद्धिमान कहा है।

> धम्मो मगल मुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो।
> देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

अर्थ—जिसका मन धर्म के विषय में सदा प्रवर्तमान है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं (तो फिर मनुष्य करें, उसमें क्या आश्चर्य है !)

श्री ठाणांग सूत्र में देवतागण किस प्रकार शुद्ध भावना कर, अपनी आत्मा की निन्दा करते है और अपने पूर्व जन्म के गुरु का कितना अधिक सम्मान करते है, वह नीचे के पाठ से ख्याल में आ जाएगा—

'अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए अगिद्धे, अगढिए अणज्झोववन्ने, तस्स णं एवं भवइ अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे आयरितेति वा उवज्झाएति वा पवत्तीति वा थेरेति वा गणीति वा गणधरेति वा गणावच्छेएति वा जेसिं पभावेणं मए इता एतारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुत्ती लद्धा पत्ता अभिसन्नागया, तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि !'

अर्थ—देवलोक मे नवीन उत्पन्न देव दिव्य कामभोग में मूर्च्छित नही होता है। कामभोगों को अनित्य जानकर अतिगृद्ध-अति आसक्त नहीं बनता है। वह मन में सोचता है कि "मेरे मनुष्य भव के धर्मोपदेष्टा आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणि, गच्छ के स्वामी तथा जिनके प्रभाव से इस प्रत्यक्ष देव ऋद्धि, दिव्य कान्ति, दिव्य प्रभाव को मैं प्राप्त कर सका हूँ, अतः मैं वहाँ जाकर उपकारी भगवन्त को वन्दन करूंगा, नमस्कार करूंगा, सत्कार व सम्मान करूंगा, कल्याणकारी-मंगलकारी देव चैत्य अर्थात् जिन प्रतिमा की सेवा करूंगा।'

और भी कहा है—

'एसण माणुस्सए भवे णाणीति वा तवस्सी ति वा अइदुक्कर-दुक्करकारते, त गच्छामि ण ते भगवते वदामि जाव पज्जुवासामि।'—(ठाणांग सूत्र)

भावार्थ—(देवता ऐसा विचार करते हैं कि) मनुष्य भव मे बडे-बडे ज्ञानी महात्मा हैं, तपस्वी हैं, अति उत्कृष्ट आचरण करने वाले हैं, सिहगुफा के पास, सर्प बिल के पास कायोत्सर्ग करने वाले हैं, दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले हैं, अत मैं जाकर ऐसे भगवान को वन्दन करूँ, नमस्कार करूँ और उनकी सेवा भक्ति करूँ।

पुन वे पश्चात्ताप करते हैं कि—

"अहो! दस दृष्टान्त से दुर्लभ ऐसे मनुष्य जन्म को पाकर पूर्वभव मे गुरु भगवन्त के योग से तप सयम का स्वीकार करने पर भी मैंने प्रमाद का त्याग नही किया। तप-सयम का सुन्दर रीति से पालन नही किया, आलस्य से गुरु तथा सार्धमिक की वैयावच्च बराबर नहीं की, सिद्धान्त का अध्ययन नही किया, चारित्र की मर्यादाओं का दीर्घकाल तक बराबर पालन नही किया, अब ऐसे सयोग मुझे पुन कब प्राप्त होंगे? और कब मैं हृदय मे शुभ ध्यान करूँगा? मोक्षपद को मैं कब प्राप्त करूँगा।' जिससे गर्भावास में आने का मेरा सदा काल के लिए छूट जाय।"

यो ठाणाग सूत्र के कथनानुसार अनेक प्रकार से शुभ भावनाओं में लीन रहने वाले तथा जिनेश्वर की आज्ञा का पालन करने वाले देवताओ को अधर्मी कैसे कहा जाए?

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के सातवें अध्ययन में देवगति का ल मनुष्य को कहा गया है और आचार्य भगवान कहते हैं कि 'हम भी उसकी उसी प्रकार से श्रद्धा करते है।'

'धीरस्सयस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जइ ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मनुष्य भव में वीतराग प्रणीत तप-संयम व साधना कर देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न हुए।

यदि उन देवों को अधर्मी कहेंगे तो क्या जिनराज द्वार कथित तप और संयम की उन्होंने अधर्मी बनने के लिए साधना क थी, वर्तमान में साधना कर रहे हैं और भविष्य में साधना करेंगे ! यदि सर्व देवों को असंयति ही गिनेंगे तो तप-संयम की साधन से वीतराग धर्म को खो देने की ही प्रवृत्ति होगी और मिथ्यात्व की ही प्राप्ति होगी, इससे तो तप-संयम की क्रिया ही दुर्गति क कारण बन जाएगी।

वर्तमान में इस क्षेत्र में मोक्ष तो है नहीं, तो फिर अच्छे-अच्छे क्रियापालन और तप-संयम का आचरण करने वाले देवगति में जाकर मिथ्यात्व में गिर जाएंगे? अतः सर्व देवताओं को अधर्मी कहना भयंकर मूर्खता ही है।

सम्यग्दृष्टि देवों ने तो कई साधुओं और श्रावकों को उपदेश देकर जैनधर्म में स्थिर किया है और उन्हें दुर्गति में जाने से रोका है। इसके लिए निम्नांकित शास्त्रीय प्रमाण है—

श्री निरयावली सूत्र में कहा है कि 'महामिथ्यात्वी सोमिल तापस रात्रि में ध्यान लगा कर, **नेतर** जैसे कोमल काष्ठ की मुख-

मुद्रा वनाकर, मुख मे डालकर और दोनो किनारो को कान मे डालकर, उत्तर दिशा मे मुख करके बैठा है।

वहाँ एक देव ने आकर कहा—'हे सोमिल ! यह तेरी प्रव्रज्या दु प्रव्रज्या है। अत जिनेश्वर कथित सुप्रव्रज्या को स्वीकार कर।'

परन्तु सोमिल ने उस ओर कुछ भी ध्यान नही दिया। इस प्रकार देव पाँच दिन तक कहता रहा कि "हे सोमिल ! यह तेरी दीक्षा झूठी है यह तेरा कष्ट अज्ञान कष्ट है अत बारबार विचार कर।" इस प्रकार बारबार इन हितवचनो को सुनकर सोमिल ने शुद्ध जैनधर्म को मान्य किया। मिथ्यात्व के दुष्कृत की आलोचना की और शुद्ध तप-जप व सयम का आराधन कर अन्त मे महाशुक्र देवविमान मे उत्पन्न हुआ। वह आगामी भव मे मोक्ष मे जाएगा। उसने श्री महावीर परमात्मा के सामने नाटक भी किया था।

श्री उपासकदशाग मे लिखा है—'गोशालक मत के उपासक सद्दालपुत्र को देवता ने महावीर स्वामी के पास जाने का उपदेश देकर धर्म मे दृढ किया था।'

जरा सोचें, वह देव सम्यग्दृष्टि नही होता तो श्री महावीर प्रभु के पास क्यो भेजता ?

श्री ज्ञातासूत्र मे कहा है—'महामोहान्ध तेतलीपुत्र मत्री को पोटिल नामक देव ने बहुत से उपाय करके धर्मबोध दिया। जिससे उसने जैन दीक्षा स्वीकार की और उसके बाद केवलज्ञान प्राप्त किया।'

धर्म के प्रति गाढ़ प्रीति वाले देवों के हृदयकमल में सम्यक्त्व जीवन्त हो, तभी उपर्युक्त प्रवृत्ति सम्भव है। मिथ्यात्वी देवों को इस प्रकार की धार्मिक अभिलाषा सम्भव नहीं है।

इतना जानने पर भी यदि कोई देवताओं के आचरण को अधर्म रूप मानेंगे तो यह केवल अज्ञानता ही है। एक देव तीर्थंकर, साधु व श्रावक पर उपद्रव करता है और दूसरा भक्तिपूर्वक उसका निवारण करता है तो उन देवों को एक समान फल मिलेगा या भिन्न-भिन्न? आपके मतानुसार तो एक समान फल मिलना चाहिए—परन्तु वैसा कभी नहीं बन सकता है। यदि कोई शिष्य देव रूप में उत्पन्न होकर अपने पूर्व के गुरु को चारित्र से पतित जानकर प्रतिबोध करे तो उस देव को धर्मी गिनेंगे या अधर्मी?

प्रश्न ७३—चौथे गुणस्थानक में रहे हुए देवताओं द्वारा की गई मूर्तिपूजा को पाँचवें-छठे गुणस्थानक में रहे हुए मनुष्य कैसे मान्य कर सकते हैं? देव तो अपना जीत-आचार समझकर पूजा करते हैं, उसमें पुण्य कैसे हो सकता है?

उत्तर—चौथे गुणस्थानक में जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उस गुणस्थानक से चौदहवे गुणस्थानक तक जीवों की धर्मश्रद्धा एक समान होती है। उस श्रद्धा में थोड़ा भी फर्क नहीं होता है। यद्यपि उनकी निर्मलता में अन्तर हो सकता है, परन्तु उस अन्तर की यहाँ बात नहीं है।

चौथे गुणस्थानक में अमुक देव आदि तत्त्वों के विषय में श्रद्धा और आगे के गुणस्थानकों में उन तत्त्वों के विषय में श्रद्धा-भेद होता हो, ऐसी बात नही है। उस-उस स्थिति में रहे हुए जीव अन्य (मिथ्या) देव-गुरु का चारों निक्षेप से त्याग करते है

तथा अरिहन्तादि के चारो निक्षेपो को मान्य करते हैं—इसमे कोई आश्चर्य नही है ।

चौथे गुणस्थानक मे रहे जीव को व्रत-पच्चक्खाण नही होते हैं तथा पाँचवें गुणस्थानक वाले जीव को होते हैं-यह अन्तर जरूर है, परन्तु सम्यक्त्व तो दोनो को होता है ।

भगवान ने सम्यग्दृष्टि अनेक देवो को मोक्षगामी और एकावतारी कहा है। यदि वे अधर्मी हो तो उन्हे मोक्ष की प्राप्ति इतनी शीघ्र कैसे सम्भव है ?

तप-सयम की आराधना से पूर्वोपार्जित निकाचित पुण्य को भोगे बिना छुटकारा नही है तथा देव-भव मे चारित्र का उदय नही होने से उस भव में मोक्ष सम्भव नही है, इसलिए उन्हे मनुष्य गति मे अवश्य आना पडता है-परन्तु इससे देवता अधर्मी नही बन जाते हैं ।

श्री उपासकदशाश्रुतस्कन्ध मे कहा है—गोशालक के भक्त मिथ्यात्वी देव ने कुण्डकोलिक श्रावक को जैनधर्म से भ्रष्ट करने के लिए बहुत से उपाय किए थे। कुण्डकोलिक ने अनेक युक्तियो से उस देव को समझाने का प्रयास किया, परन्तु उसने अपनी हठ नही छोडी। अत सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि मे काफी अन्तर सिद्ध होता है ।

चौबीस तीर्थंकर गृहस्थावस्था मे चौथे गुणस्थानक मे होते हैं। उन्हे धर्मी कहे या अधर्मी ?

श्री महावीर परमात्मा, अपने माता-पिता के स्वर्गवास के बाद भी कुछ समय तक गृहस्थ जीवन मे रहे। सर्व ममता से

रहित और रागद्वेष से विरक्त बने हुए थे फिर भी उनका गुण-स्थानक चौथा ही था। भरत चक्रवर्ती गृहस्थपने में चौथे गुण-स्थानक पर थे, फिर भी वे आगे केवली हो गए अतः देवताओं को चौथे गुणस्थानक में रहने के कारण ही अधर्मी कहेंगे-तब तो ऊपर के सब महात्मा भी अधर्मी सिद्ध हो जाएंगे।

शुद्ध भाव से ही मुक्ति है। वह भाव, ज्ञान-दर्शन और चारित्र से पैदा होता है और ज्ञान-दर्शन की शुद्धि के लिए मूर्ति-पूजा का विधान है। इस कारण देवताकृत जिनपूजा भी धर्म ही गिनी जाएगी-अधर्म नहीं।

देवता के शुभ आचार-पालन को जीत-आचार में गिनकर भी उत्थापित नहीं कर सकते है।

प्रथम तो **जीत आचार** किसे कहते हैं? यह समझना चाहिए।

जीत अर्थात् अवश्य करने योग्य। अवश्य करने योग्य कार्य को जीताचार कहते है। जैसे—श्रावक को जीत व्यवहार से रात्रि-भोजन का त्याग, अभक्ष्य-अनन्तकाय का त्याग, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं का पालन करना चाहिए।

इससे पुण्यबन्ध होगा या नही?

यदि आप कहेंगे कि पुण्यबन्ध होगा तो फिर देवता जीता-चार से मूर्तिपूजा करे तो उससे पुण्यबन्ध होगा या नहीं?

जिस समय सूर्याभदेव आभियोगिक देवताओं के साथ में श्री महावीर प्रभु के पास आकर वन्दनपूर्वक समवसरण की

रचना कर, भक्ति करने की इच्छा व्यक्त करता है, उस समय वीरप्रभु ने कहा था—

"पोराणमेय देवा०, जीयमेय देवा० कीयमेय देवा०, करणिज्जमेय देवा० आचीन्नमेय देवा० अब्भणुन्नायमेय देवा० ।"

भावार्थ—चिरकाल से देवताओ ने यह कार्य किया है। हे देवानुप्रिय ! तुम्हारा यह आचार है, तुम्हारा यह कर्त्तव्य है, तुम्हारे लिए करणीय है, तुम्हारे लिए आदरणीय है। मैंने तथा अन्य समस्त तीर्थंकरो ने इसकी अनुज्ञा प्रदान की है।

(श्री रायपसेणी सूत्र)

साक्षात् श्री तीर्थंकरदेव भी जिसके आचरण की इस प्रकार प्रशसा करते हैं और करने के लिए अनुमति देते है, उसे निरर्थक या पापप्रवृत्ति कहने के लिए कौन समर्थ है ?

भगवान के पाँचो कल्याणको मे देवता बडा महोत्सव करते हैं—यह बात 'श्री जबुद्वीप पन्नत्ति' सूत्र मे कही गई है।

श्री जिनेश्वरदेव के अस्थि आदि को किस प्रकार असुरकुमार देव-देवी तथा चमर-असुरेन्द्र आदि शुभभाव से पूजते हैं, उसका वर्णन तथा फल, श्री गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान महावीर ने बतलाया है, जो निम्नाकित सूत्र से स्पष्ट है—

"चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमारन्नो अन्नेसिं च बहूण असुरकुमाराणा देवाण देवीणय अच्चणिज्जाओ वदणिज्जाओ नमसणिज्जाओ, पूयणिज्जाओ, सक्कारणिज्जाओ, समाणिज्जाओ कल्लाण मगल देवय चेइय पज्जुवासणिज्जाओ भवति ।"

भावार्थ—वे दाढ़ाएँ (अस्थियाँ) चमर असुरेन्द्र असुरकुमार देव तथा देवियों के लिए अर्चन योग्य, वन्दन योग्य, नमन योग्य, पूजन योग्य, सत्कार योग्य, सम्मान योग्य तथा कल्याणकारी-मंगलकारी देव सम्बन्धी चैत्य (जिनप्रतिमा) के समान सेवा करने योग्य है।

श्री जंबुद्वीप पन्नत्ति मे भी दाढ़ाओं के अधिकार में कहा है कि **'केइ जिणभत्तीए'** अर्थात् कई देव जिनभक्ति मानकर तथा कई धर्म मानकर प्रभु की दाढ़ाओं को लेते हैं।

इस प्रकार की भक्ति करने वाले देवों को अधर्मी कैसे कह सकते है ?

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में भक्ति का फल यावत् मोक्ष और **श्री रायपसेणी** के आधार पर जिनपूजा का भी उतना ही फल सर्वज्ञ परमात्माओं ने बतलाया है। उसे निरर्थक कैसे गिन सकते है ?

इतना होने पर भी जीताचार से पुण्य व पाप दोनों के बन्ध का निषेध कहोगे तो फिर शास्त्र में 'जीव समय-समय में सात-आठ कर्म का बन्ध करता है'-यह बात कैसे संगत होगी ?

यदि कह दो कि पापबन्ध होता है, तो वह बात बिल्कुल झूठ है, क्योंकि भगवान ने तो उस आचरण का फल मोक्ष बतलाया है।

पूजा के समय तो देवता उत्कृष्ट शुभ भाव में रहते है तो उस शुभ भाव का फल अशुभ मिले, यह कैसे सम्भव है ? भक्ति

करने वाले मनुष्यों को तो पुण्यवन्ध और देवताओं को पापवन्ध हो-यह कैसा प्रलाप है ?

प्रश्न ७४—देवता तो सम्पूर्ण जीवन मे एक ही वार मूर्ति-पूजा करते हैं, फिर नहीं। तथा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों वर्ग के देव वैसा करने के कारण उसे जीताचार कहते हैं, परन्तु शुभ आचरण नहीं ?

उत्तर—श्री रायपसेणी सूत्र मे सूर्याभदेव ने जब पूछा कि—'मुझे आगे तथा पीछे हितकारी और करने योग्य क्या है ?' तब सामानिक देवो ने कहा—"तुम्हे आगे तथा पीछे श्री जिनेश्वरदेव की पूजा हितकारी और करने योग्य है" इसमे सम्यग्दृष्टि सूर्याभदेव ने श्री जिनप्रतिमा की पूजा नित्य करणीय और हितकारी समझकर नित्य की है, ऐसा समझना चाहिए।

किसी भी मिथ्यादृष्टि देव ने श्री जिनपूजा की हो, उसका उल्लेख किसी भी सूत्र मे नही है। अत वह आचरण समस्त देवो के लिए नही, किन्तु सम्यग्दृष्टि देवो के लिए ही है। श्री रायपसेणी सूत्र मे भी लिखा है—

'अन्नेसिं वहूणं वेमाणियाण देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ।'

अर्थ—दूसरे भी वहुत से देव तथा देवियो के लिए पूजने योग्य हैं।

इत्यादि पाठ मे स्पष्ट है कि सिर्फ सम्यग्दृष्टि देव ही पूजते हैं। यदि समस्त देवो के लिए पूजा अनिवार्य होती तो सव्वेसिं वेमाणियाण देवाणय' ऐसा पाठ होना चाहिए था।

इस प्रकार देवताओं की जिस भक्ति की स्वयं तीर्थंकर परमात्मा भी प्रशंसा करते हैं, जो निरन्तर शुभभाव में मग्न रहते है, गुरु के दर्शन करने के लिए तथा प्रश्न पूछने के लिए विनय सहित आते है, एकचित्त से परमात्मा व गुरु की देशना का श्रवण करते है, मिथ्यादृष्टि देवों के उपद्रव को दूर करते है, धर्मभ्रष्ट जीवों को उपदेश देकर स्थिर करते है और विविध प्रकार से शासन की उन्नति करते हैं, उन समस्त कार्यों को धर्म गिनेंगे और मात्र मूर्तिपूजा करने से उन्हें अधर्मी गिनने का प्रयत्न करोगे तो यह कार्य नीचतापूर्ण ही कहा जाएगा।

यदि पूर्वोक्त कार्यों में देवता भगवान की स्तुति, भजन, स्मरण, वैयावच्च आदि कर धर्म की महिमा बढ़ाते है तो फिर क्या सिद्धायतन में जाकर जिनप्रतिमा के सामने इससे विपरीत करते होंगे ? अर्थात् भगवान की निन्दा या अधम कृत्य करते होंगे कि जिस कारण मूर्तिपूजा को निरर्थक और अशुभ माना जाय ?

शास्त्रानुसार तो वे शुभभावयुक्त **'नमोत्थुणं'** का पाठ कर स्तुति करते है और नाटक, गीत-गान आदि कर परम उत्कृष्ट गति का बन्ध करते है।

श्री आवश्यक सूत्र में **'देवाणं आसायणाए'** पाठ कहकर देवताओं की आशातना का **'मिच्छामि दुक्कडं'** देने में आया है। इस प्रकार **'मिच्छामि दुक्कडं'** देकर फिर इस प्रकार अवर्णवाद बोलना क्या न्यायसंगत है ?

श्री ठाणांग सूत्र के पाँचवें उद्देश में कहा है कि सम्यग्दृष्टि

देवो की आशातना तथा निन्दा करने से जीव निकाचित कर्मों का वन्ध करता है और दुर्लभवोधि वनता है।

"पर्चाहिं ठार्णोहिं जीवा दुल्लभवोहियत्ताए कम्म पकरेंति त जहा—

(१) अरिहताणमवन्न वदमाणे
(२) अरिहत पणत्तस्स धम्मस्स अवण्ण वदमाणे
(३) आयरिय उवज्झायाण अवण्ण वदमाणे
(४) चाउवण्णसधस्स अवण्ण वदमाणे
(५) विवित्त वभचेराण देवाण अवन्न वदमाणे।

भावार्थ—पांच स्थानो से जीव दुर्लभवोधि योग्य पापकर्म का वन्ध करता है और जैनधर्म की प्राप्ति को दुर्लभ वनाता है। वे पांच स्थानक निम्नाकित हैं—

(१) अरिहन्त परमात्मा की निन्दा करने से (२) अरिहन्त परमात्मा प्ररूपित धर्म की निन्दा करने से (३) आचार्य-उपाध्याय की निन्दा करने से (४) चतुर्विध सघ की निन्दा करने से तथा (५) पूर्वभव मे परिपूर्ण तप व ब्रह्मचर्य का पालन कर जो देव वने है, ऐसे सम्यग्दृष्टि देवो की निन्दा करने से जीव दुर्लभवोधि वनता है और उसे जैनधर्म की प्राप्ति दुर्लभ होती है। उसी सूत्र मे कहा है कि उनकी प्रशसा करने से जीव सुलभवोधि अर्थात् जिनधर्म को सरलता/सहजता से प्राप्त करने वाला वनता है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देवो के वीच रात-दिन का अन्तर है। उसे यथार्थ रूप से समझकर सम्यग्दृष्टि

श्रौर उपकारी देवों को विपरीत व सामान्य कोटि में रखने के पाप से बचना चाहिए।

प्रश्न ७५—कहते हैं कि श्री महानिशीथ सूत्र के श्रमुक पन्ने नष्ट हो जाने से कई श्राचार्यो ने मिलकर इसे पुनः तैयार किया है। श्रतः इसे मानने में शंका क्यों न हो ?

उत्तर—····तो फिर श्रन्य सूत्रों को मानने में भी शंका रखनी पड़ेगी, क्योकि वे भी श्रन्य श्राचार्यो के द्वारा ही बने हुए है–परन्तु यह तर्क जिनपूजा नही मानने की मनोवृत्ति में से ही पैदा हुश्रा है।

श्री महानिशीथ सूत्र मे स्थान-स्थान पर मूर्तिपूजा की पुष्टि होने से श्री नंदीश्वर द्वीप का इस सूत्र में निर्देश होने पर भी उसका श्रनादर करने के लिए ही इस बात को श्रागे की जाती है। परन्तु **श्री महानिशीथ** उपरान्त श्रन्य श्रनेक सूत्रों में भी श्री जिनप्रतिमा श्रौर उसकी पूजा के पाठ श्राते हैं।

श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने श्रनेक ग्रन्थ पुस्तकारूढ़ किए, उसमें से **श्री नंदीसूत्र** में सभी सूत्रों का निर्देश है। उसी निर्देश में **श्री महानिशीथ सूत्र** है।

श्री तीर्थंकर गणधर भगवन्तों की परम्परा से चली श्रा रही प्रणालिका श्रनुसार, उन श्राचार्यो ने, उस सूत्र का पिछला भाग लोप हो जाने से, उन्हें जितना मिला उतना जिनाज्ञानुसार लिख दिया। उन्होंने श्रात्मार्थी, भवभीरुगीतार्थ होने से श्रपनी मनः कल्पना से एक श्रक्षर की भी नवीन रचना नहीं की है।

वे लिखते है कि—श्री महानिशीथ सूत्र के श्रमुक पन्ने नष्ट

हो जाने से उस सम्बन्ध मे गुरुपरम्परा से जिनाज्ञानुसार जितना अधिकार मिला, उसे यहाँ स्थापित किया है। हमारी बुद्धि से इसमे कुछ भी नवीन लेख का समावेश नही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस अधिकार के चले जाने से वे उसे प्राप्त न कर सके, उस अधिकार को सर्वथा छोड दिया। यदि वे पक्षपाती होते तो यद्वा-तद्वा झूठे गप्प हाँककर उसे पूरा क्यो नही करते? परन्तु शुद्ध अन्त करण वाले महात्मा ऐसा उत्सूत्र-भाषण कभी नही करते हैं। प्राय समस्त सूत्र गणधरदेवो ने रचे थे, उतने समस्त श्लोको की सख्या का प्रमाण आज रहा नही है। आचार्यो को जितने-जितने श्लोक याद थे, उतने तो लिख दिए और शेष छोड दिए नो फिर जैसी शका श्री महा-निशीथ मे उत्पन्न होती है, वैसी शका अन्य अगसूत्रो मे भी होनी चाहिये। यहाँ इतना समझना महत्त्वपूर्ण है कि समुद्र जितने ग्यारह अग एक लोटे मे समा जाय उतने रह गए हैं, परन्तु पानी तो उसी स्याद्वादमय द्वादशागी रूप समुद्र का ही है, इसमे लेश भी फर्क नही है।

श्री महानिशीथ सूत्र भी अन्य सूत्रो की भाँति अक्षरश सत्य है। समुद्र समान गम्भीर बुद्धि के स्वामी, परोपकाररत महान् आचार्यो पर, जिनप्रतिमा के द्वेष से कलक लगाना अत्यन्त अनुचित ही है। सूत्रविरुद्ध एक अक्षर की भी प्ररूपणा करने से आत्मा अनन्त ससारी होती है तो क्या उन आचार्यो को लेश भी भव का भय नही था?

श्री महानिशीथ सूत्र का आलेखन हुए लगभग १४०० वर्ष बीत चुके हैं तो बीच के १०००-१२०० वर्ष तक कोई भी कुतर्क करने वाला क्यो पैदा नही हुआ? इस बीच सैकडो आचार्य

और साधु हो चुके है, जिन्होंने निःशंकतया उस सूत्र को मान्य किया है अतः उसकी प्रामाणिकता में सन्देह पैदा करने वाला ही अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

प्रश्न ७६—श्री जिनेश्वर भगवन्त को वन्दन-नमस्कार रूप भाव पूजा से लाभ होता है तो फिर पुष्प-फल आदि चढ़ाने से क्या फायदा ?

उत्तर—....तब तो फिर साधु लोकों की पूजा भी भाव से ही करनी चाहिए। गाड़ी, मोटर, ट्रेन में चढ़कर सैकड़ों मील दूर गुरु को वन्दन करने के लिए जाने से क्या फायदा ? घर बैठे मन से ही भावना कर लेनी चाहिये तथा आहार, पानी, वस्त्र, पात्र, औषध, पाट आदि से द्रव्यपूजा क्यों करनी चाहिये ? उसमें तो प्रत्यक्ष हिंसा है।

साधु आहार करेंगे तो उन्हें स्थंडिल जाना पड़ेगा, पेशाब करना पड़ेगा, चालू वर्षा आदि में भी मल-मूत्र का व्युत्सर्जन करना पड़ेगा और ऐसा करने पर असंख्य जीवों की यावत् पंचेन्द्रिय तक की भी हिंसा हो जाएगी। कभी साधु को अजीर्ण हो गया तो वे दुःखी होंगे, उनके पेट में द्वीन्द्रिय जीव पैदा हो जाएँगे और वे नष्ट हो जाएँगे ...तो फिर यह सारा पाप आहार देने वाले को नहीं लगेगा ?

वस्त्र मलिन होता है, उसमें जू आदि जीव पैदा हो सकते है, अतः साधु की यह सारी द्रव्यपूजा छोड़कर केवल भावपूजा ही क्यों न की जाय ?

यदि आप कहेगे कि 'साधु को दान देने से तो एकान्ततः

निर्जरा बताई गई है'-तो फिर 'जिनमूर्ति की द्रव्यपूजा से कर्मबन्ध होता है', यह किस सूत्र में कहा है।

पूजा में उपयोगी पुष्प आदि जीव तो मात्र एकेन्द्रिय अव्यक्त चैतन्यवाले हैं, उसमे यदि दोष बताते हो तो साधु को गर्म व मधुर भोजन वहोराते समय तो उठने-बैठने, जाने-आने की क्रिया मे अनेक त्रस जीवो की भी हिंसा सम्भव है, फिर भी उसमे निर्जरा बतलाते हो-यह कहाँ का न्याय है ?

एकेन्द्रिय की हिंसा से बेइन्द्रिय की हिंसा मे अधिक पाप है इस प्रकार अनुक्रम से पचेन्द्रिय की हिंसा मे अनन्तगुरणा पाप है तो फिर सोचें—साधु को द्रव्य दान देने मे ज्यादा पाप या तीर्थंकर की पूजा से अधिक पाप ?

जिस प्रकार साधु को दान देने का आदेश अनेक सूत्रो मे है उसी प्रकार जिनेश्वर की द्रव्यपूजा का आदेश भी अनेक सूत्रो मे है। जिस बात का निषेध न हो उसका आदेश समझना चाहिए। जिस प्रकार गृहस्थ के लिए मुनिदान उचित है, उसी प्रकार द्रव्यपूजा भी उचित ही है। एक का आदर और दूसरे का अनादर करना-यह एकमात्र स्पष्ट पक्षपात ही है। क्योंकि सम्यक्त्व के आचरण मे सुपात्रदान और जिनपूजा, इन दोनो कार्यों का समावेश होना है। यह भी सोचने योग्य है कि इच्छारहित को दान देना श्रेष्ठ है या इच्छावान् को ? सकर्मी को दान देना विशेष योग्य है या अकर्मी अर्थात् कर्मरहित को दान देना विशेष योग्य है ? सोचने पर पता चलेगा कि इच्छा वाले सकर्मी साधु की द्रव्यपूजा की अपेक्षा इच्छारहित और कर्ममल से सर्वथा मुक्त वीतरागदेव की द्रव्यपूजा करना विशेप

फलदायी है। इस कारण श्री प्रश्नव्याकरण में द्रव्यपूजा को 'दया' शब्द से सम्बोधित किया है तथा 'आवश्यक सूत्र' में पुष्पादि से पूजा करने से संसार-क्षय का फल बतलाया है।

प्रश्न ७७—श्री प्रश्नव्याकरण में दया के आठ नाम बतलाए हैं, उसमें पूजा को भी दया में गिना है तो फिर वहाँ भावपूजा क्यों नहीं समझना ?

उत्तर—भावपूजा क्या वस्तु है ? उसे बराबर समझना चाहिए। जिस समय द्रव्यपूजा की जाती है, उस समय मन में जो शुभपरिणाम उत्पन्न होते हैं, उसी का नाम भावपूजा है। द्रव्य के बिना किसी काल में भाव सम्भव नहीं है।

जैसे—रसोई की हो तभी आहार रूप द्रव्य से साधु को दान देने की भावना कर सकते है और उसी को भाव कहते हैं। केवल भावना कोई पदार्थ नहीं है। जो बारह भावनाएँ है वे भी अमुक-अमुक द्रव्य पर आश्रित है।

श्री जिनेश्वर के गुण की प्रशंसा करना स्तुति कहलाता है, पूजा नही और द्रव्यपूजा करने वाले की अनुमोदना करना वह भावपूजा है।

अगर कोई स्त्री रसोई की सामग्री तैयार किए बिना ही साधु को दूर से आते देख, दरवाजा बन्द कर झरोखे में बैठकर मन में भावना करे कि "साधु को आहार-पानी बहोराने से जीव की मुक्ति होती है।" तो उसकी यह भावना सच्ची या झूठी ? सार्थक या निरर्थक ? द्रव्य पदार्थ रहित होने से वह भावना व्यर्थ है। जहाँ चित्त, वित्त और पात्र-इन तीनों का योग हो वही

उत्तम लाभ सम्भव है। वित्त और पात्र रहित चित्त की शास्त्रकारो ने प्रशसा नही की है क्योकि अधिकाशत वह दम्भ रूप बन जाती है।

श्री आवश्यक सूत्र मे 'लोगस्स' के पाठ मे जो **'कित्तिय वदिय महिया'** पाठ आता है, उसमे 'कित्तिय' का अर्थ 'कीर्ति अथवा स्तुति की' और 'वदिय' का अर्थ 'वदना की' ये दो शब्द भावपूजावाचक हैं, परन्तु 'महिया' शब्द का अर्थ 'महिता पुष्पादिभि' 'अर्थात् पुष्पादिक से पूजा की' अर्थात् यह वचन द्रव्यपूजा आश्रित है-फिर भी कई लोग भावपूजा का झूठा अर्थ कर भ्रम मे डालते है-वह असत्य है। किसी भी टीकाकार अथवा टबाकार ने केवल भावपूजा का अर्थ नही किया है, बल्कि भावपूजा और द्रव्यपूजा उभय अर्थ ही किया है।

प्रश्न ७८--मूर्ति को स्नान ही कराना है तो फिर कच्चे (सचित्त) जल के वजाय अचित्त गुलाबजल आदि से कराने मे क्या नुकसान है? फल-फूल के बदले कागज के फूल तथा इलायची, लोंग आदि अचित्त वस्तुओ का उपयोग करने मे क्या तकलीफ है?

उत्तर--भद्रिक आत्माओ को सन्मार्ग से भ्रष्ट करने के लिए यह एक कुटिल तर्क है। इस प्रकार का कुतर्क देने वाले इस तर्क का उपयोग अपने ही घर मे क्यो नही करते है? अपने गुरु गोचरी के लिए आएँ तब उन्हे कागज तथा कपडे की अचित्त रोटी वहोराएँ गर्म पानी के बदले अचित्त गुलाबजल आदि दे और स्वय एकासना-उपवास आदि करे तब कागज-कपडे की रोटियां खाए व अचित्त गुलाब जल आदि पीए क्योकि

पानी गर्म करने से व रसोई करने से तो षट्जीव निकाय की हिंसा होगी।

ये सारे कुतर्क व्यर्थ हैं। पूजा की जो उचित पद्धति चली आ रही है उसे बदलने में भयंकर अनर्थ के सिवाय अन्य कुछ परिणाम नहीं है। कागज के फूल या गुलाब जल से पूजा या दान देने से आज्ञा-भंग का दोष तो लगता ही है परन्तु उसके सिवाय भी अनेक दोषों की परम्परा चालू हो जाती है। भक्ति के बदले केवल अभक्ति और आशातना ही होती है।

जो मौज-शौक और सांसारिक कार्यप्रसंगों में फूलों के हार-गजरा आदि बनाकर पास में रखते हैं, उसमें सैकड़ों फूलों की हिंसा हो जाने पर भी पाप का लेश भी ख्याल नहीं रहता है और वे पूजा के पुष्प, जो प्रभु के अंग पर निर्भय स्थान में चढ़ते हैं, उसमें भयंकर पाप मानते हैं, सचमुच उनकी बुद्धि उन्मार्गगामी ही बनी है। ऐसा शिक्षण देने वाले गुरुओं के सामने जाना, उन गुरुओं के दीक्षा व मृत्यु के प्रसंग में सैकड़ों मील दूर से वन्दन के लिए जाना-इत्यादि कृत्यों में एकेन्द्रिय सिवाय विक-लेन्द्रिय-पंचेन्द्रिय जीवों की भी प्रत्यक्ष हिंसा है, फिर भी उस हिंसा के सामने आँख-मिचौनी कर केवल जिनपूजा के महान् धर्म से भ्रष्ट करने के लिए ऐसा कुतर्क देना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? प्रायः ऐसा कोई धर्म कार्य नहीं है, जिसमें हिंसा का लेश भी अंश न हो, इतने मात्र से धर्मप्रवृत्ति का त्याग करोगे, तब तो जगत् में एक भी कार्य उपादेय नही गिना जाएगा।

प्रश्न ७९—श्री जिनप्रतिमा की स्तुति करने की सर्वोत्तम विधि क्या है?

उत्तर—प्रतिमा मे भगवान के नाम तथा गुणो का आरोपण कर उसके समक्ष भगवान की स्तुति करना, यह सर्वोत्तम विधि है। जैसे अपने पूर्वजो का चित्र देखकर सभी उसकी प्रशसा करते हैं, उसे सुनकर चित्त प्रसन्न होता है तथा पूर्वजो को आदर मिलता है, ऐसा प्रतिभास होता है, वैसे ही भगवन्त की प्रतिमा का आदर करने से भगवान का ही आदर होता है, ऐसा लगना चाहिए।

भगवान को आदर देने की इच्छा जगी, यह भी परम शुभ अध्यवसाय का लक्षण है और उससे जीव महान् पुण्य उपार्जित करता है। गृहस्थाश्रम भोगने वाले श्रावको के लिए भगवान का गुणगान करने हेतु अनुकूल स्थान श्री जिनमन्दिर को छोडकर अन्य कोई नही है।

भगवान के गुणो का स्मरण तथा ध्यान करने के लिए श्री जिनमन्दिर मे जिनप्रतिमा की स्थापना की गई है। उसके दर्शन के साथ ही भगवान के गुण याद आते हैं।

श्री जिनमूर्ति की मुखाकृति देखकर विचार पैदा होते है, 'अहो! यह मुख कितना सुन्दर है कि जिसके द्वारा किसी के लिए भी अपशब्द नही बोला गया तथा जिससे कभी हिंसक, कठोर अथवा कडवे वचन नही निकले। उसमे रही जीभ से रसनेन्द्रिय के विषयो का कभी भी रागद्वेष से सेवन नही किया गया, परन्तु उस मुख द्वारा धर्मोपदेश देकर अनेक भव्य जीवो को इस ससार-सागर से पार उतारा गया है, इसलिए वह मुख हजारो बार धन्यवाद का पात्र है।'

भगवान की नासिका द्वारा सुगन्ध या दुर्गन्ध रूप घ्राणेन्द्रिय के विषयो का राग अथवा द्वेषपूर्वक उपभोग नही किया गया।

'इन चक्षुओं द्वारा पाँच वर्ण रूप विषयों का पल भर के लिये भी राग अथवा द्वेषपूर्वक उपभोग नहीं किया गया। किसी भी स्त्री की ओर मोहदृष्टि से अथवा किसी शत्रु की ओर द्वेषदृष्टि से नहीं देखा गया; केवल वस्तुस्वभाव तथा कर्म की विचित्रता का विचार कर भगवान के नेत्र सदा समभाव में रहते हैं। ऐसे भगवान के नेत्रों को कोटिश: धन्य है।'

'इन दोनों कानों के द्वारा विचित्र प्रकार की राग-रागिनियों का रागपूर्वक श्रवण नही किया गया परन्तु इन्होंने मधुर या कटु, अच्छे या बुरे जैसे भी शब्द कान में पड़े, उनको रागद्वेष रहित होकर सुना है।'

'इस शरीर को किसी जीव की हिंसा अथवा अदत्त-ग्रहण आदि का दोष नहीं लगा। इसका उपयोग केवल जीवरक्षा निमित्त तथा सभी को सुख मिले, उसी ढंग से हुआ है। इस देह ने गाँव-गाँव विहार कर अनेक जीवों के सांसारिक बन्धनों को तोड़ा है तथा सभी कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान या केवलदर्शन को प्रकट किया है।'

'ऐसे प्रभु अनुपम उपकारी तथा सम्पूर्ण जगत् के अकारण बन्धु होने से उनको असंख्य बार धन्यवाद है। इनकी यथाशक्ति भक्ति करना, यह मेरा परम कर्त्तव्य है।'

प्रभु की शान्त मुद्रा देखकर ऐसी शुभ भावना अन्त:करण में उत्पन्न होती है। उत्तम जीव, नि:स्वार्थ प्रेमी, ऐसे परमात्मा की जल, चन्दन, केसर, बरास, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत, फल, नैवेद्य आदि से पूजा करते है, बहुमूल्य आभूषण चढ़ाते है, इनकी भक्ति में यथाशक्ति धन खर्च करते है और सोचते है कि 'यदि मैं

प्रभु की भक्ति करूगा तो मैं स्वय तिरने के साथ अन्यो को तिराने मे भी निमित्त बनूगा क्योकि मेरी भक्ति देखकर दूसरे लोग उसका अनुकरण करेंगे तथा अनेक भव्य पुरुष भगवान की सेवा करने मे तत्पर होंगे और मैं उसमे निमित्त बनूगा ।'

द्रव्यपूजा-समाप्ति के पश्चात् भावपूजा करते समय भक्त भगवान के गुणो का स्मरण कर अपनी आत्मा के साथ उनकी तुलना करता है कि—

'अहो ! प्रभु वैरागी हैं और मैं रागी हूँ ।
प्रभु द्वेष रहित हैं और मैं द्वेष पूर्ण हूँ ।
प्रभु क्रोध रहित हैं और मैं क्रोधी हूँ ।
प्रभु निष्काम हैं और मैं कामी हूँ ।
प्रभु निर्विषयी हैं और मैं विषयी हूँ ।
प्रभु मान रहित हैं और मैं मानी हूँ ।
प्रभु माया से परे हैं और मैं मायावी हूँ ।
प्रभु निर्लोभ हैं और मैं लोभी हूँ ।
प्रभु आत्मानन्दी है और मैं पुद्गलानन्दी हूँ ।
प्रभु अतीन्द्रिय सुख के भोगी हैं और मैं विषय सुख का भोगी हूँ ।
प्रभु स्वभावी हैं और मैं विभावी हूँ ।
प्रभु अजर हैं और मैं सजर हूँ ।
प्रभु अक्षय हैं और मैं क्षय को प्राप्त होते रहने वाला हूँ ।
प्रभु अशरीरी हैं और मैं सशरीरी हूँ ।
प्रभु अनिंदक हैं और मैं निंदक हूँ ।
प्रभु अचल हैं और मैं चचल हूँ ।
प्रभु अमर हैं और मैं मरणशील हूँ ।

प्रभु निद्रा रहित है और मै निद्रा सहित हूँ ।

प्रभु निर्मोह है और मैं मोह वाला हूँ ।

प्रभु हास्य रहित है और मैं हास्य सहित हूँ ।

प्रभु रति रहित है और मै रति सहित हूँ ।

प्रभु शोक रहित है और मै शोक सहित हूँ ।

प्रभु भय रहित है और मै भयभीत हूँ ।

प्रभु अरति रहित है और मैं अरति सहित हूँ ।

प्रभु निर्वेदी हैं और मै सवेदी हूँ ।

प्रभु क्लेशरहित है और मै क्लेशसहित हूँ ।

प्रभु अहिसक है और मैं हिसक हूँ ।

प्रभु वचन-रहित हैं और मै मृपावादी हूँ ।

प्रभु प्रमाद रहित है और मै प्रमादी हूँ ।

प्रभु आशा रहित है और मैं आशावान हूँ ।

प्रभु सभी जीवों को सुखदायी हैं और मैं अनेक जीवो को दु:खदायी हूँ ।

प्रभु वंचना रहित है और मै वंचक हूँ ।

प्रभु आस्रव रहित हैं और मै आस्रव सहित हूँ ।

प्रभु निष्पाप है और मै पापी हूँ ।

प्रभु कर्मरहित है और मै कर्म सहित हूँ ।

प्रभु सभी के विश्वासपात्र है और मैं अविश्वासपात्र हूँ ।

प्रभु परमात्मपद को पहुँचे हुए है और मैं बहिरात्मभाव में घूम रहा हूँ ! आदि ।

इस प्रकार प्रभु तो अनेक गुणों से परिपूर्ण है और मैं सब प्रकार के दुर्गुणों से परिपूर्ण हूँ । इसी कारण मैं इस संसाररूपी वन में अनंतकाल से भटक रहा हूँ । आज मेरे भाग्योदय से मुझे भगवान की मूर्ति के दर्शन हुए तथा उसके आलम्बन से मुझे प्रभु

के गुणो का तथा मेरे अवगुणो का स्मरण हुआ। प्रभु के गुण तथा मेरे अवगुण समझ मे आये। अब मैं अपने दुर्गुणो को छोडने का प्रयत्न करूँ तथा जो मार्ग भगवान ने बतलाया है उसका अनुसरण करूँ, सुख एव कल्याण के लिए जैसा व्यवहार करने का उन्होने फरमाया है, वैसा ही व्यवहार मैं करूँ।

इस प्रकार की शुभ भावना से स्तुति करता हुआ जीव अपने अशुभ तथा क्लिष्ट कर्मो का नाश करता है इससे समकित की शुद्धि होती है और परम्परागत मोक्ष के अनन्त सुखो की प्राप्ति होती है।

श्री जिनप्रतिमा की पूजा तथा स्तुति से इस प्रकार के साक्षात् तथा परम्परागत अनेक लाभ होने से प्रत्येक भव्य आत्मा को जिनप्रतिमा का प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त आदर करना चाहिए।

प्रश्न ८०—पूजा और प्रतिष्ठा महामगलकारी हैं, तो फिर मूर्ति की प्रतिष्ठा मे शुभाशुभ मुहूर्त देखने का क्या प्रयोजन ?

उत्तर—किसी योग्य शिष्य को जब दीक्षा देनी होती है तब शुभ मुहूर्त क्यो देखा जाता है ? क्या दीक्षा अमगलकारी है कि जिसके लिए शुभ मुहूर्त की आवश्यकता होती है ? शुभ नक्षत्र तथा शुभ ग्रह, शुभ सूचक है व अशुभ ग्रह तथा अशुभ नक्षत्र, अशुभ सूचक हैं, अत प्रत्येक शुभ कार्य मे शुभ मुहूर्त देखने की आवश्यकता है।

भगवान स्वय तो वीतराग हैं और उनकी मूर्ति भी सभी जीवो का भला करने वाली है फिर भी कोई दुष्ट आत्मा उनकी आशातना, निंदा अथवा आज्ञा का उल्लघन करे और परिणाम-स्वरूप उसका अहित हो तो उसमे भगवान या मूर्ति का दोष नही है।

शास्त्रकारों के आदेशानुसार सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, तप, जप, नियम, ध्यान आदि प्रत्येक क्रिया विधिवत् करने से लाभ करती है तथा प्रतिकूल रूप से करने पर हानि करती है। यही बात मूर्ति की प्रतिष्ठा के विषय में भी समझनी चाहिए।

शास्त्राभ्यास भी असमय और अविधि से करने की मनाही है। उसी भाँति मूर्तिपूजा आदि समस्त लाभकारी क्रियाएँ जिस मात्रा में भावपूर्वक तथा विधि-सम्मानपूर्वक करने में आती हैं, उतनी ही मात्रा में फलदायी होती हैं। मुनिराज सदा सबके हितकारी होते हुए भी जिस भाव से उनकी ओर देखा जाता है, उसी प्रकार का फल जीव प्राप्त करते हैं। जैसे किसी महासती साध्वी को रूपवान देखकर किसी विषयी पुरुष को कामविकार उत्पन्न हो जाय अथवा सुन्दर ब्रह्मचारी को देखकर कोई दुष्ट स्त्री उस पर मोहित हो जाय तो क्या इससे वह साधु या साध्वी अवन्दनीय हो जायेगी? उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान श्री मल्लिनाथजी की प्रतिमा देखकर छह राजा कामातुर हो गये। तो क्या इससे भगवान श्री मल्लिनाथजी की महिमा समाप्त हो गई? कामीजनों के मोहनीय कर्म के उदय से उनकी खराब गति होती है, उसका कारण उनके स्वयं के क्लिष्ट कर्म है, न कि वे महापुरुष।

'अनार्य लोगों को श्री जिनमूर्ति से कहाँ लाभ होता है?' ऐसा प्रश्न करने वाले को समझना चाहिए कि जिसने सच्चे देव के यथार्थ स्वरूप को नहीं जाना और उनकी प्रतिमा को अपने इष्टदेव के रूप में स्वीकार नहीं किया, ऐसी आत्माओं को श्री जिनमूर्ति से लाभ न हो तो उसका कारण उनकी अयोग्यता है। जो परमात्मा के स्वरूप को वास्तविक रूप से जान-पहचान कर परमात्मा की प्रतिमा को वन्दन-पूजन करते है, उनको आर्द्रकुमार की भाँति अवश्य शुभध्यान उत्पन्न होता है तथा अचिन्त्य लाभ मिलता है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं। □

¤ जिन-प्रतिमा माहात्म्य ¤

पूज्य न्यायाचार्य, न्यायविशारद महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी महाराज विरचित "श्री प्रतिमाशतक" के प्रति मननीय ११ पद्य

(१)

ऐन्द्रश्रेणिनता प्रतापभवन भव्यागिनेत्रामृत ,
सिद्धान्तोपनिपद्विचारचतुरै प्रीत्या प्रमाणीकृता ।
मूर्ति स्फूर्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरी विस्फुरन्
मोहोन्मादघनप्रमादमदिरामत्तैरनालोकिता ।

इन्द्रो की श्रेणी द्वारा नमस्कृत, प्रताप के गृहरूप, भव्य प्राणियों के नेत्रो को अमृतरूप, सिद्धान्त के रहस्य का विचार करने मे चतुर पुरुषो द्वारा प्रीति से प्रमाणभूत की हुई और स्फुरायमान ऐसी श्री जिनेश्वर भगवन्त की प्रतिमा सदा विजय प्राप्त करती है, कि जो प्रतिमा विविध परिणाम वाले मोह के उन्माद और प्रमादरूपी मदिरा से उन्मत्त बने कुमति-पुरुषो को देखने मे नही आती ।। १ ।।

(२)

नामादित्रयमेव भावभगवत्तादप्यधीकारणं,
शास्त्रात् स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः ।
तेनार्हत्प्रतिमामनादृतवतां भावं पुरस्कुर्वता-
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः ।।

नामादि तीनों निक्षेप भगवान के तद्रूपपने की बुद्धि के कारण है तथा उनको शुद्ध हृदय वाले गीतार्थ पुरुषों ने शास्त्र से तथा अपने अनुभव से स्वीकार किया है तथा बार-बार उनका अनुभव किया है। इससे अर्हत की प्रतिमा का अनादर कर मात्र भाव अर्हत को जो मानने वाले है उनकी बुद्धि दर्पण में मुख देखने वाले अन्धे पुरुषों की भाँति कुत्सित एवं दोषयुक्त है ।। २ ।।

(३)

स्वान्तं ध्वान्तमयं मुखं विषमयं दृग् धूमधारामयी,
तेषां यैर्न नता स्तुता न भगवन्मूर्तिर्न वा प्रेक्षिता ।
देवैश्चारणपुंगवैः सहृदयैरानन्दितैर्वन्दिता,
ये त्वेनां समुपासते कृतधियस्तेषां पवित्रं जनुः ।।

जिन्होंने भगवान की मूर्ति को नमस्कार नहीं किया, उनका हृदय अन्धकारमय है; जिन्होने उनकी स्तुति नहीं की, उनका मुख विपमय है तथा जिन्होंने उनका दर्शन नही किया, उनकी दृष्टि धुएँ से व्याप्त है। देवगण, चारण, मुनि और तत्त्ववेत्ताओं द्वारा आनन्द से वन्दना की हुई इस प्रतिमा की जो उपासना करते है, उनकी बुद्धि कृतार्थ है और उनका जन्म पवित्र है ।। ३ ।।

उत्फुल्लामिव मालतीं मधुकरो रेवामिवेभ प्रिया,
माकन्दद्रुममञ्जरीमिव पिक सौन्दर्यभाज मधौ।
नन्दच्चन्दनचारुनन्दनवनीभूमिमिव द्यो पति-
स्तीर्थेशप्रतिमा न हि क्षणमपि स्वान्ताद्धि मु चाम्यहम् ॥

जैसे भ्रमर प्रफुल्लित मालती को नही छोडता, जैसे हाथी मनोहर रेवा नदी को नही छोडता, जैसे कोयल वसत ऋतु मे सुन्दर आम्रवृक्ष की डाली को नही छोडती और जैसे स्वर्गपति इन्द्र चन्दन वृक्षो मे सुन्दर ऐसी नन्दनवन की भूमि को नही छोडता, वैसे ही मैं तीर्थंकर भगवन्त की प्रतिमा को अपने हृदय से पलभर भी दूर नहीं करता ॥ ४ ॥

(५)

मोहोद्दामदवानलप्रशमने पाथोदवृष्टि शम-
स्रोतोनिर्झरिणी समीहितविधौ कल्पद्रुवल्लि सताम्।
ससारप्रबलान्धकारमथने, मार्तंडचडद्युति-
र्जैनीमूर्तिरुपास्यता शिवसुखे भव्या पिपासास्ति चेत् ॥

हे भव्य प्राणियो ! जो तुम्हे मोक्षसुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो तुम श्री तीर्थंकर भगवान की प्रतिमा की उपासना करो, जो प्रतिमा मोहरूपी दावानल को शान्त करने मे मेघवृष्टि रूप है, जो समता रूप प्रवाह देने के लिए नदी है, जो सत्पुरुषो को वाछित देने मे कल्पलता है और जो ससाररूपी उग्र अन्धकार को नाश करने मे सूर्य की तीव्र प्रभारूप है ॥ ५ ॥

(६)

दर्शं दर्शमवापमव्ययमुदं विद्योतमाना लसद्-
विश्वासं प्रतिमामकेन रहित ! स्वां ते सदानन्द ! याम् !
सा धत्ते स्वरसप्रसृत्वरगुणस्थानोचितामानमद्-
विश्वा संप्रति मामके नरहित ! स्वान्ते सदानं दयाम् ।।

हे सर्व दुःख रहित प्रभो ! हे सदा आनन्दमय नाथ ! आपकी मूर्ति को देख-देखकर मैं अपने हृदय में विश्वास प्राप्त कर अव्यय एव अविनाशी हर्ष को प्राप्त हुआ हूँ । हे मानव-हितकारी प्रभो ! आपकी यह प्रतिमा अभयदान सहित उपाधि बिना वृद्धिगत गुणस्थानक के योग्य दया का पोषण करती है ।। ६ ।।

(७)

त्वद्‌बिम्बे विधृते हृदि स्फुरति न प्रागेव रूपान्तरं,
त्वद्रूपे तु ततः स्मृते भुवि भवेन्नो रूपमात्रप्रथा ।
तस्मात्त्वन्मदभेदबुद्ध्युदयतो नो युष्मदस्मत्पदो-
ल्लेखः किंचिदगोचरं तु लसति ज्योतिः परं चिन्मयम् ।।

हे प्रभो ! आपके बिम्ब को हृदय मे धारण करने के बाद दूसरा कोई रूप हृदय मे स्फुरायमान नहीं होता और आपके रूप का स्मरण होते ही पृथ्वी पर अन्य किसी रूप की प्रसिद्धि नहीं होती । इसके लिए "तू वही में" ऐसी अभेद बुद्धि के उदय से "युष्मद् और अस्मद्" पद का उल्लेख भी नही होता और कोई अगोचर परम चैतन्यमय ज्योति अन्तर में स्फुरायमान होती है ।। ७ ।।

(८)

किं ब्रह्मैकमयी किमुत्सवमयी श्रेयोमयी किं किमु,
ज्ञानानन्दमयी किमुन्नतिमयी किं सर्वशोभामयी।
इत्थं किं किमितिप्रकल्पनपरैस्त्वन्मूर्तिरुद्वीक्षिता,
किं सर्वातिगमेव दर्शयति सद्ध्यानप्रसादान्महः ॥

क्या यह प्रतिमा ब्रह्ममय है? उत्सवमय है? कल्याण-मय है? उन्नतिमय है? सर्व शोभामय है? इस प्रकार की कल्पना करते कवियों द्वारा देखी हुई तुम्हारी प्रतिमा सद्ध्यान के प्रसाद से सबको उल्लंघन करने वाली ज्ञानरूप तेज को बताती है ॥ ८ ॥

(९)

त्वद्रूपं परिवर्ततां हृदि मम ज्योति स्वरूप प्रभो!
तावद् यावदरूपमुत्तमपदं निष्पापमाविर्भवेत्।
यत्रानन्दघने सुरासुरसुखं सपीडितं सर्वतो,
भागेऽनन्ततमेऽपि नैति घटना कालत्रयीसंभवि ॥

हे प्रभो! पाप-नाशक, उत्तम पदस्वरूप और रूपरहित ऐसा अप्रतिपाती ध्यान जब तक प्रकट नहीं हो जाता तब तक मेरे हृदय में आपका रूप अनेक प्रकार से ज्ञेयाकार रूप से परिणाम को प्राप्त हो! जो आनन्दघन में त्रिकालसम्भवी और सभी ओर से एकत्रित सुर-असुर का सुख अनन्तवें भाग का भी नहीं है ॥ ९ ॥

(१०)

स्वान्तं शुष्यति दह्यते च नयनं भस्मीभवत्याननं,
दृष्ट्वा तत्प्रतिमामपीह कुधियामित्याप्तलुप्तात्मनाम् ।
अस्माकं त्वनिमेषविस्मितदृशां रागादिमां पश्यतां,
सान्द्रानन्दसुधानिमज्जनसुखं व्यक्तीभवत्यन्वहम् ।।

जिनप्रतिमा के विषय में जिनकी आत्मा खंडित हुई है ऐसे दुर्बुद्धियों का हृदय इस प्रतिमा को देखकर सूख जाता है, नेत्र जल उठते है और मुँह भस्मीभूत हो जाता है, जबकि प्रेम से इस प्रतिमा को अनिमेष दृष्टि से देखते, हमको तो आनन्दघन अमृत में डूबने का सुख निरन्तर प्रगट होता है ।। १० ।।

(११)

मन्दारद्रुमचारुपुष्पनिकरैर्वृन्दारकैरर्चितां,
सद्वृंदाभिनतस्य निर्वृतिलताकन्दायमानस्य ते ।
निस्यन्दात् स्नपनामृतस्य जगतीं पान्तीममन्दामया-
वस्कन्दात् प्रतिमां जिनेन्द्र ! परमानंदाय वन्दामहे ।।

हे जिनेन्द्र ! उत्तम पुरुषों के द्वारा नमस्कृत एवं मुक्ति रूपी लता के कन्द समान आपकी प्रतिमा, जिसको देवताओं ने मंदार वृक्ष के पुष्पों से पूजी है और जो उग्र रोग का शोषण करने वाले स्नात्रजल रूप अमृत के झरने से सारे जगत् की रक्षा करती है, ऐसी प्रतिमा को हम परम आनन्द (मोक्ष) के लिए वन्दना करते हैं ।। ११ ।।

□□□

❀ कुमति - लता - उन्मीलन ❀

—यानी—

[श्री जिनबिंब-स्थापन-स्तवन]

भरतादिके उद्धारज कीधो, शत्रुजय मोझार ,
सोनातणा जेणे देरा कराव्या, रत्नतणा बिंब थाप्या ,
हो कुमति ! का प्रतिमा उत्थापी ? ग्रे जिनवचने थापी, १

वीर पछे वसे नेवु वरसे, सप्रति राय सुजाण ,
सवा लाख प्रासाद कराव्या, सवा क्रोड बिंब थाप्या ,
हो कुमति !० २

द्रौपदीए जिनप्रतिमा पूजी, सूत्रमा साख ठराणी ,
छट्ठे अगे ते वीरे भाख्यु , गणधर पूरे साखी ,
हो कुमति !० ३

सवत् नवसेताणु वरसे, विमल मन्त्रीश्वर जेह ,
आबु तणा जेणे दहेरा कराव्या, बे हजार बिंब थाप्या ,
हो कुमति !० ४

सवत् अगिआर नवाणु वरसे, राजा कुमारपाल ,
पाच हजार प्रासाद कराव्या, सात हजार बिंब थाप्या ,
हो कुमति !० ५

सवत् बार पचाणु वरसे, वस्तुपाल तेजपाल ,
पांच हजार प्रासाद कराव्या, अगीयार हजार बिंब थाप्या ,
हो कुमति !० ६

सवत् बार बोहोतेर वरसे, सघवी धन्नो जेह ,
राणकपुर जेणे देरा कराव्या, क्रोड नवाणु द्रव्य खरच्या ,
हो कुमति !० ७

संवत् तेर एकोतेर वरसे, **समरोशा रंग** सेठ,
उद्धार पंदरमो शत्रुंजे कीधो, अगीयार लाख द्रव्य खरच्या,
हो कुमति ! ० ८

संवत् पंदर सत्तासी वरसे, बादशाह ने वारे;
उद्धार सोलमो शत्रुंजे कीधो, **करमशाहे** जश लीधो,
हो कुमति ! ० ९

ए जिन प्रतिमा जिनवर सरखी, पूजे त्रिविध तुमे प्राणी;
जिन प्रतिमामां संदेह न राखो, वाचक **जसनी** वाणी,
हो कुमति ! ०१०

❀ श्री जिन प्रतिमा-स्थापन-स्वाध्याय ❀

जेम जिनप्रतिमा वंदन दीसे, समकित ने अलावे;
अंगोपांग प्रकट अरथ ए, मूरख मनमां नावे रे,
कुमति ! कां प्रतिमा उथापी ? ० १

एम तें शुभ मति कापी रे—कुमति ! कां प्रतिमा उथापी ?
मारग लोपे पापी रे, कुमति ! कां प्रतिमा उथापी ?
एह अरथ अखंड अधिकारे, जुओ उपांग उववाई;
ए समकितनो मारग मरडी, कहे दया शी भाई रे !
कुमति ! ० २

समकित विण सुर दुरगति पामे, अरस विरस आहारे;
जुओ **जमाली** दयाए ने तरीओ, हुओ बहुल संसारी !
कुमति ! ० ३

चारण मुनि जिन प्रतिमा वंदे, भाखिऊं भगवई अंगे;
चैत्य साखि आलोयण भाखे, व्यवहारे मन रंगे !
कुमति ! ० ४

प्रतिमा-नति फल काऊस्सग्गे आवस्यकमा भाख्यु ,
चैत्य अर्थ वेयावच्च मुनि ने, दसमे अगे दाख्यु रे।
कुमति। ० ५

सूरियाम सूरि प्रतिमा पूजी, रायपसेणी माहि ,
समकित विणु भवजलमा पडता, दया न साहे बाहि रे।
कुमति। ० ६

द्रौपदीये जिन-प्रतिमा पूजी, छठे अगे वाचे ,
तो सु एक दया पोकारी, आणा विण तु माचे रे।
कुमति। ० ७

एक जिन प्रतिमा वदन द्वेपे, सूत्र घणा तु लोपे।
नदी मा जे आगम सख्या, आपमती का गोपे ?
कुमति। ० ८

जिनपूजा फलदानादिक सम, महानिशीथे लहिये ,
अध परपर कुमतिवासना, तो किम मनमा वहिये रे ?
कुमति। ० ९

सिद्धारथ राय जिन पूज्या, कल्पसूत्रमा देखो ,
आणा शुद्ध दया मन धरता, मिले सूत्रना लेखो रे।
कुमति। ० १०

थावर हिंसा जिन-पूजामा, जो तु देखी धूजे ,
तो पापी ते दूर देश थी, जे तुज आवी पूजे रे।
कुमति। ० ११

पडिकमणे मुनि दान विहारे, हिंसा दोष विशेष ,
लाभालाभ विचारी जोता, प्रतिमामा स्यो द्वेष रे ?
कुमति। ० १२

टीका चूर्णि भाष्य उवेख्या, ऊवेखी निर्युक्ति ,
प्रतिमा कारण सूत्र उवेख्या, दूर रही तुझ मुगति रे।
कुमति। ० १३

शुद्ध परम्परा चाली आवी, प्रतिमा-वन्दन वाणी ;
संमूर्च्छम जे ए मूढ़ न माने, तेह अदीठ कल्याण रे !
कुमति ! ० १४

जिन प्रतिमा जिन सरिखो जाणे, पंचांगीना जाण ;
कवि **जसविजय** कहे ने गिरुआ, कीजे तास वखाण रे !
कुमति ! ० १५

卐 श्री जिनप्रतिमा-स्थापन 卐

[श्री शान्तिनाथ भगवान का स्तवन]

शान्तिजिनेश्वर साहेब वंदो, अनुभव रस नो कंदो रे,
मुखने मटके लोचन लटके, मोह्या सुरनर वृंदो रे,
शांति० १

मंजर देखी ने कोयल टौके, मेघ घटा जेम मोरो रे,
तेम जिनप्रतिमा निरखी हरखुं, वलीजेम चंद चकोर रे,
शांति० २

जिन प्रतिमा जिनवर भाखी, सूत्र घणां छे साखी रे,
सुरनर मुनिवर वंदन पूजा, करता शिव अभिलाषि रे,
शांति० ३

रायपसेणी प्रतिमा पूजी, **सूरियाभ** समकितधारी रे,
जीवाभिगमे प्रतिमा पूजी, **विजयदेव** अधिकारी रे,
शांति० ४

जिनवर बिंब विना नवि वंदु, **आणंदजी** एम बोले रे,
सातमे अंगे समकित मूले, अवर नहिं तस तोले रे,
शांति० ५

ज्ञातासूत्रे द्रौपदी पूजा, करती शिवसुख मागे रे,
राय सिद्धारथे प्रतिमा पूजी, कल्पसूत्र माहे रागे रे,
शाति० ६

विद्याचारण मुनिवरे वदी, प्रतिमा पाचमे अगे रे,
जधाचारण मुनिवरे वदी, जिनप्रतिमा मन रगे रे,
शाति० ७

आर्यसुहस्ति सूरि उपदेशे, चावो सप्रतिराय रे,
सवा क्रोडि जिनबिंब भराव्या, धन्य धन्य एहनी माय रे,
शाति० ८

मोकली प्रतिमा अभयकुमारे देखी आर्द्रकुमार रे,
जातिस्मरणे समकित पामी, वरीओ शिवसुख सार रे,
शाति० ६

इत्यादिक बहु पाठ कह्या छे, सूत्र माहे सुखकारी रे,
सूत्र तणो एक वर्ण उत्थापे, ते कह्यो बहुल ससारी रे,
शाति० १०

ते माटे जिनआणा धारी, कुमति कदाग्रह वारी रे,
भक्ति तणा फल उत्तराध्ययने, बोधि बीज सुखकारी रे,
शाति० ११

एके भवे दोय पदवी पाम्या, सोलमा श्री जिनराय रे,
मुज मन मदिरीए पधराव्या, धवल मगल गवराय रे,
शाति० १२

जिन उत्तम पद रूप अनुपम, कीर्ति कमलानी शाला रे,
जीवविजय कहे प्रभुजीनो भक्ति, करता मगल माला रे,
शाति० १३



॥ श्री शाश्वत-जिन-स्तुति ॥



ऋषभ चन्द्रानन वन्दन कीजे, **वारिषेण** दुःख वारे जी,
वर्द्धमान जिनवर वली प्रणमो, शाश्वत नाम ए चारे जी।
भरतादिक क्षेत्रे मली होवे, चार नाम चित्त धारे जी,
तेणे चारे ए शाश्वत जिनवर, नमीये नित्य सवारे जी ॥१॥

ऊर्ध्व अधो तिर्छा लोके थई, कोडि पन्नरसें जाणो जी,
ऊपर कोडी बेहंतालीस प्रणमो, अडवन लख मन आणो जी।
छत्रीश सहस एंशी ते ऊपरे, बिम्ब तणो परिमाणो जी,
असंख्यात व्यंतर ज्योतिषीमां, प्रणमुं ते सुविहाणो जी ॥२॥

रायपसेणि जीवाभिगमे, भगवती सूत्रे भाखी जी,
जंबूद्वीप पन्नत्ति ठाणांगे, विवरीने घणुं दाखी जी।
वली अशाश्वती **ज्ञाताकल्पमां,** व्यवहार प्रमुखे आखी जी,
ते जिन प्रतिमा लोपे पापी, जिहां बहु सूत्र छे साखी जी ॥३॥

ए जिन पूजाथी आराधक, ईशान इन्द्र कहाया जी,
तेम सूरियाभ बहु सुरवर, देवी तणा समुदाया जी।
नंदीश्वर अट्ठाई महोत्सव, करे अति हर्ष भराया जी,
जिन उत्तम कल्याणक दिवसे, पद्मविजय नमे पाया जी ॥४॥

पाताले यानि बिम्बानि, यानि बिम्बानि भूतले।
स्वर्गेऽपि यानि बिम्बानि, तानि वन्दे निरन्तरम् ॥ १ ॥

पाताल-लोक मे रहे हुए,
भूतल मे रहे हुए तथा
स्वर्ग लोक मे रहे हुए
—श्री जिन बिम्बो को मैं निरन्तर वन्दन करता हूँ।

जिने भक्तिर्जिने भक्ति-र्जिने भक्तिर्दिने-दिने।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु, सदा मेऽस्तु भवे-भवे ॥ २ ॥

भगवान श्री जिनेश्वरदेवो के प्रति
भवोभव मे
सदा के लिए
नित्य प्रति
मुझे भक्ति प्राप्त होवे।



卐 श्री जिन-पूजन महिमा 卐

सयं पमज्जरणे पुन्न, सहस्सं च विलेवरणे।
सयसहस्सिया माला, अनन्तं गीयवायए ॥ १ ॥

इस पुस्तक के प्रथम प्रकरण का लेखन प्रारम्भ करते समय आगे के पृष्ठ पर 'श्री जिन-दर्शन महिमा' सूचक पद्य प्रस्तुत किया है। उसमें श्री जिनमन्दिर में प्रभु के दर्शन करने से एक मासोपवास का व्यावहारिक फल वताया है। उसके अनुसन्धान में यह पद्य वताता है कि—

प्रभुदर्शन के फल की अपेक्षा श्री जिनविम्व का प्रमार्जन करने से सौ-गुना फल मिलता है। श्री जिनविम्व के विलेपन से हजार गुना फल मिलता है, श्री जिनविम्व को सुवासित पुष्पों की माला पहनाने से लाख गुना फल मिलता है और श्री जिनविम्व के सम्मुख नृत्यादि द्वारा भाव भक्ति करने से अनन्त-गुना फल मिलता है।

जिनवर बिम्ब ने पूजतां, होय शतगणु पुण्य।
सहसगणु फल चन्दने, जे लेपे ते धन्य ॥ १ ॥

लाख गणु फल कुसुमनी, माला पहिरावे।
अनन्तगणु फल तेहथी, गीत-गान करावे ॥ २ ॥

तीर्थंकर पदवी वरे, जिन पूजा थी जीव।
प्रीति भक्तिपरो करी, स्थिरतापणे अतीव ॥ ३ ॥

जिन पडिमा जिन सारिखी, सिद्धान्ते भाखी।
निक्षेपा सहु सारिखा, थापना तिम दाखी।। ४।।

त्रणकाल त्रिभुवन माही, करे ते पूजन नेह।
दरिशन केरूं बीज छे, एहमा नहिं सन्देह।। ५।।

ज्ञानविमल तेहने, होय सदा सुप्रसन्न।
एहीज जीवित फल जाणीजे, तेहीज भविजनधन्न।। ६।।

—श्री ज्ञानविमल सूरि



परिशिष्ट : २

"नमस्कार महामंत्र" के सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री के तात्त्विक और सात्त्विक हिन्दी-साहित्य का

☼ संक्षिप्त परिचय ☼

१. महामन्त्र की अनुप्रेक्षा—मूल गुजराती भाषा में लिखित इस पुस्तक की गुजराती भाषा में तीन आवृत्तियाँ प्रकट हो चूकी हैं। हिन्दी भाषा में भी दो आवृत्तियाँ प्रगट हुई है।

"नमस्कार महामन्त्र" के अगाध चिन्तन-सागर में अवगाहन करने के वाद पूज्यपादश्री को जो चिन्तन-मोती प्राप्त हुए....उन्हीं चिन्तनमोतियों की माला का दूसरा नाम "महामन्त्र की अनुप्रेक्षा" है। "नमस्कार-महामन्त्र" शब्द से छोटा है, परन्तु वह अर्थ का महासागर है।

तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक अवश्य पठनीय और मननीय है।

मूल्य : बीस रुपये

२ परमात्म-दर्शन—पूज्य की पूजा करने से अपनी आत्मा भी पूज्य/पवित्र बनती है। परमेष्ठी के प्रथम पद पर विराजमान तारक तीर्थंकर परमात्मा का स्वरूप क्या है? उनका हम पर कितना असीम उपकार है? उनकी पूजा से क्या फायदे हैं? इत्यादि अनेकविध विषयो पर इस पुस्तक मे मार्मिक विवेचन किया गया है। जिनभक्ति-रसिको के लिए यह पुस्तक अत्यन्त ही उपयोगी है।

मूल्य पाँच रुपये

३ नमस्कार मीमासा—पूज्यपादश्री की यह भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। विशाल शास्त्र-समुद्र के अवगाहन के बाद नमस्कार महामन्त्र की महत्ता को सिद्ध करने वाले अनेक छोटे-बडे लेखो का सग्रह अर्थात् नमस्कार-मीमासा।

इस पुस्तक मे १२३ छोटे-बडे निबन्ध हैं। थोडे से शब्दो मे पूज्यपादश्री ने बहुत कुछ कह दिया है। सचमुच ये निबन्ध गागर मे सागर का काम करते हैं।

मुमुक्षु आत्मा के लिए इसका स्वाध्याय बहुत जरूरी है।

मूल्य आठ रुपये

४. चिन्तन के फूल—धर्म का स्वरूप, सुख का स्वरूप, अनेकान्तवाद, मैत्री भावना, आनन्द की शोध आदि-आदि अनेक चिन्तनात्मक लेखो का सग्रह इस पुस्तक मे उपलब्ध है। जैनदर्शन के हार्द को समझने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त ही उपयोगी है।

मूल्य पांच रुपये

५. चिन्तन की चांदनी—पूज्यपादश्री ने राजस्थान की मरुधरा में स्थिरता दरम्यान नमस्कार महामन्त्र पर जो प्रवचन किये थे, उन्हीं प्रवचनों का संकलन प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध है। पुस्तक अत्यन्त सरल रोचक शैली में लिखी गई है। अवश्यमेव पठनीय है। मूल्य : छह रुपये

६. जैन-मार्ग परिचय—जिनेश्वर परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग 'जैन-मार्ग' कहलाता है।

जैन-मार्ग की साधना द्वारा किस प्रकार आत्मा की पूर्णता प्राप्त की जा सकती है, इसका सरल व श्रेष्ठ उपाय प्रस्तुत पुस्तक से प्राप्त होता है। पुस्तक फिलहाल अप्राप्त है। पुनः प्रकाशन की योजना है।

७. चिन्तन की चिनगारी—इस पुस्तक में मैत्री आदि भाव सम्बन्धी अनेक लेख हैं। आत्मा के अभ्युत्थान के लिए जीवन में मैत्री आदि भावो को किस प्रकार आत्मसात् किया जाय उसका सहज व सरल मार्गदर्शन प्रस्तुत पुस्तक में है। इसके साथ जीवन-स्पर्शी अनेक विषयों पर भी इसमें सुन्दर चर्चा की गई है। मूल्य : चार रुपये पचास पैसे

८. चिन्तन का अमृत—सचमुच, इस पुस्तक का स्वाध्याय करते समय अमृत के आस्वादन की अनुभूति हुए विना नहीं रहती। विषमय भौतिक जीवन को किस प्रकार अमृतमय बनाया जा सकता है, ऐसे अनेक निबन्ध इस पुस्तक में संगृहीत होने से यह पुस्तक मुमुक्षु व आराधक आत्मा के लिए अवश्य पठनीय/मननीय है। मूल्य : सात रुपये

९ आपके सवाल-हमारे जवाब—इस पुस्तक मे आत्मा, कर्म, पुण्य, पाप, परलोक, मोक्ष, महामन्त्र तथा प्रतिक्रमण आदि विषयो से सम्बन्धित अनेक प्रश्नो के तर्कबद्ध जवाब दिये गये गये हैं। पुस्तक को पढने से दिमाग मे रहे अनेक प्रश्नो के समाधान स्वत हो जाते हैं। मूल्य सात रुपये

१० समत्वयोग की साधना—लोकोत्तर जिनशासन मे समता का अत्यधिक महत्त्व है। समता ही मोक्ष का अनन्य कारण है। इस पुस्तक मे समता विषयक अनेक लेखो का सुन्दर सकलन है। समतारसिक मुमुक्षु आत्माओ के लिए यह पुस्तक एक सुन्दर पाथेय का काम करेगी।

मूल्य बारह रुपये

११ परमेष्ठि-नमस्कार (द्वितीय आवृत्ति)—मे नमस्कार महामन्त्र की सर्वश्रेष्ठता, उपादेयता, नवकार मे नवरस, नमस्कार महामन्त्र का उपकार, नमस्कार महामत्र की व्यापकता इत्यादि अनेक विषयो पर शास्त्रीय व आकर्षक शैली मे वर्णन किया गया है। नमस्कार महामन्त्र की श्रद्धा के दृढीकरण के लिए यह पुस्तक अत्यन्त ही उपयोगी है। मूल्य नौ रुपये

१२ जिन-भक्ति—इस पुस्तक मे पूर्वाचार्यों के द्वारा विरचित अनेक प्राकृत-सस्कृत स्तोत्रो का बहुत ही सुन्दर शैली मे भावानुवाद प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक का प्रकाशन (मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली) की ओर से किया गया है। परमात्म-भक्ति रसिक मुमुक्षु आत्माओ के लिए यह पुस्तक अवश्य पठनीय है।

मूल्य बीस रुपये

१३. प्रतिमा पूजन (द्वितीय आवृत्ति)—क्या प्रतिमा पूजनीय है? प्रतिमा की पूजा करने से क्या हमें कुछ लाभ हो सकता है? क्या वीतराग की प्रतिमा की पूजा अनिवार्य है? इत्यादि अनेक प्रश्नों के जवाब के साथ-साथ प्रतिमा-पूजन की प्राचीनता सम्बन्धी विस्तृत जानकारी इस पुस्तक से मिलती है। सत्य-जिज्ञासु आत्मा के लिए यह पुस्तक अवश्य पठनीय है।

मूल्य : पन्द्रह रुपये

